



ओ३म्

आर्यसिद्धान्त विमर्श

ऋषि दयानन्दकृत
आर्योद्देश्यरत्नमाला
की
विस्तृत व्याख्या

व्याख्याकार
स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

प्रकाशक
सूरजमल भगवानदेवी धर्मार्थ न्यास

प्रकाशक :

चौ० सूरजमल भगवानदेवी धर्मार्थ न्यास
साहिबाबाद-दौलतपुर, दिल्ली-११००४२

सर्वाधिकार लेखकाधीन

प्रथमावृत्ति १९९४

मूल्य : २०=०० रुपये

लेजर टाइप सैटिंग :

भगवती प्रकाशन

मॉडल टाउन, दिल्ली-११०००९

मुद्रक :

राधा प्रेस

कैलाशनगर, दिल्ली-

समर्पणम्

वर्तमान में गुरुकुल शिक्षा-पद्धति के आद्य प्रवर्तक

लेखनी के धनी, तार्किक शिरोमणि

वीतराग स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती की

पुण्यस्मृति में सश्रद्ध समर्पित

—विद्यानन्द सरस्वती

डी-१४/१६, मॉडल टाउन, दिल्ली

मकर संक्रान्ति संवत् २०५०

१४ जनवरी १९९४ ईसवी

भूमिका

—डॉ० सत्यकामजी वर्मा

आयुर्वेदालंकार पूर्व कुलपति

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

स्वामी श्री विद्यानन्दजी सरस्वती वैदिक विचारकों और लेखकों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यदि यह कहा जाए तो सर्वथा अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि हिन्दी और अंग्रेजी में समान गति और प्रवाह से लिखनेवाले ऐसे बिरले वैदिक विद्वान् आर्यसमाज और वेदप्रेमी-जगत् को बहुत गिने-चुने ही मिल पाये हैं। वर्तमान समय में स्वामीजी अकेले ही ऐसे विद्वान् और मनीषी हैं। गत वर्षों में उनका जितना भी साहित्य सामने आया है, उसमें उनकी एक चिन्ता सदा ही प्रमुख रूप से सामने आई है। वह यह कि इस युग में वेदों की ज्योति को पुनः प्रज्वलित करनेवाले स्वामी दयानन्द सरस्वती की प्रशंसा भले ही कितने भी विद्वानों ने की हो, उनकी मान्यताओं को स्वयं उनके अनुयायी ही पूरी तरह समझ पाने में बहुधा असफल रहे हैं। इसका एकमात्र कारण है स्वाध्याय की कमी। स्वामी दयानन्द के तीन विविध पक्षों को पिछले छह दशकों में तीन विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से उजागर करने का प्रयास किया है। दिवंगत महापण्डित भगवद्भक्तजी ने उनके अज्ञात पत्रों, आत्मचरित्र और भाषणों को सम्पादित करने के अतिरिक्त स्वामीजी की इतिहासदृष्टि को सर्वप्रबल ढंग से उजागर किया। महावैयाकरण स्वर्गीय पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक ने उनके वेदांग, व्याकरण, वेदभाष्य एवं पत्रादि के सम्पादन और संशोधन में आजीवन प्रयास किया। तीसरे ऐसे दयानन्द और वेद के भक्त महामनीषी लेखक हैं, स्वामी विद्यानन्दजी सरस्वती; जिन्हें अपने मूर्ख आश्रम में भी स्वामीजी के मन्तव्यों को समझने-समझाने में ही श्रम का भ्रानन्द मिलता था और संन्यास लेने के बाद से तो उन्हें स्वामीजी के ग्रन्थों की सरल व्याख्या करने के अतिरिक्त उनके दार्शनिक और अन्य मतों को भी अपनी विविध रचनाओं के माध्यम से स्पष्ट करने की चिन्ता रही है। सौभाग्य से हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी पर उन्हें एक-सा अधिकार प्राप्त है। लगन का प्रमाण तो उनकी वह लेखनी है, जो जरदृष्टि इस युवा को विश्राम का भावसर ही नहीं लेने देती। विवेचना और विद्वत्ता से परिपूर्ण यह लघु पुस्तिका उस बात का प्रमाण है।

आर्यसिद्धान्त विमर्श :

यही है नाम इस लघु पुस्तिका का जो आकार में १२२ पृष्ठों की होकर भी महत्त्व में अपने से कई गुणा विशाल ग्रन्थों से भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है और इसकी महत्ता का कारण यह है कि इसमें स्वामी दयानन्द द्वारा

‘आर्योद्देश्यरत्नमाला’ में दी गई एक सौ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या को उनके मूल प्रमाणों को उपस्थापित करते हुए समझाने का प्रयास किया गया है। वस्तुतः इस पारिभाषिक शब्दावली में भारतीय संस्कृति, धर्म और दर्शन के क्षेत्र में प्रयुक्त सभी पारिभाषिक शब्दों का समाहार हो गया है। इन सौ संज्ञाओं की परिभाषा भी स्वामी दयानन्द ने अत्यन्त संक्षेप में बिल्कुल शास्त्रीय ढंग से दी थी, किन्तु धर्म, संस्कृति और दर्शन का जिज्ञासु एक सामान्य पढ़ा-लिखा जन उन सबको विस्तार से समझना चाहता है। वह इन व्याख्याओं की सप्रमाण पुष्टि भी चाहता है। इस पुस्तिका के विद्वान् लेखक ने इसी स्पष्टीकरण और प्रमाणों के उपस्थापन के लिए इस पुस्तक का प्रणयन किया है और वे इसमें पूरी तरह सफल भी रहे हैं।

परिभाषाओं का महत्त्व :

यहाँ यह बात समझना अत्यावश्यक है कि स्वामी दयानन्द ने केवल इन्हीं सौ शब्दों को क्यों चुना? ‘ईश्वर’ से लेकर ‘नमस्ते’ तक आये ये एक सौ शब्द वे हैं, जिनका प्रयोग स्वामीजी द्वारा सम्पूर्ण ग्रन्थावली में शतशः स्थानों पर हुआ है। दूसरे शब्दों में, स्वामीजी ने ऐसी बहुधा प्रयुक्त शब्दावली को चुना है, जिनका प्रयोग तो धर्म, संस्कृति और दर्शन के ग्रन्थों में बहुधा होता है, किन्तु जिन्हें प्रयोग करते हुए विद्वज्जन अपने-अपने ढंग से उनका मनमाना प्रयोग करते हैं। इसीलिए स्वामीजी ने ‘स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश’ लिखने के बाद भी इनका स्पष्टीकरण आवश्यक समझा और ‘आर्योद्देश्यरत्नमाला’ का सृजन किया, परन्तु ये व्याख्याएँ प्राचीन आचार्यों की-सी सूत्रशैली में हैं। इनमें पूर्णता, संक्षेप और स्पष्टता के वे तीनों लक्षण उपस्थित हैं, जिन्हें पाणिनीय व्याकरण की विशेषताएँ बताया जाता है, परन्तु जिस प्रकार पाणिनि के उस सम्पूर्ण, संक्षिप्त एवं विस्पष्ट व्याकरण को भी जनसुलभ एवं बोधगम्य बनाने के लिए वृत्तियों और भाष्यों की आवश्यकता अनुभव हुई, उसी तरह स्वामीजी के इन मतों को भी सरलतम शब्दों में और पूर्ण प्रमाणों के साथ समझाने की आवश्यकता थी। सच तो यह है कि बहुत-से आर्यसमाज के विद्वान् भी इनकी व्याख्या मनमाने ढंग से करते रहते हैं। इसीलिए आवश्यकता थी कि कोई अधिकारी विद्वान् इन सभी वक्तव्यों को सप्रमाण समझाने का बीड़ा उठाए। सौभाग्य से स्वामी विद्यानन्दजी सरस्वती का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। यह पुस्तक इसी ध्यानाकर्षण का परिणाम है।

प्रमाण और प्रमाणग्रन्थ :

स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा रचित मूल पुस्तिका ‘आर्योद्देश्यरत्नमाला’ में पूरे एक सौ नामों या परिभाषाओं का समावेश हुआ है। जैसाकि हम कह आये हैं कि ‘ईश्वर’ से लेकर ‘नमस्ते’ तक कुल एक सौ शब्द हैं। यदि इन एक सौ शब्दों को ठीक से समझ लिया जाए तो भारतीय संस्कृति का समग्र

रूप सरलता से हृदयंगम किया जा सकता है, किन्तु मनीषी और विद्वान् समीक्षक होने के कारण ऋषि के ही अनन्य भक्त स्वामी विद्यानन्दजी सरस्वती से यह बात छिपी न रह सकी कि जितनी ही आवश्यकता इन एक सौ शब्दों की महर्षि द्वारा दी गई परिभाषाओं को स्पष्टता से समझाने की है, उतनी ही आवश्यकता ग्रन्थारम्भ में दिये गये 'ओ३म्' नाम के अर्थ और प्रयोग को समझाने की भी है। यह बात इसलिए भी आवश्यक थी कि महर्षि ने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के आरम्भ में ईश्वर के एक सौ नामों की व्याख्या करते हुए सर्वप्रथम इस 'ओ३म्' नाम की ही व्याख्या की थी। इसीलिए इस पुस्तिका के लेखक ने भी 'ओ३म्' शब्द के प्रयोगविषय, उसके महत्त्व और उसके विविधार्थक प्रयोगों पर ध्यान दिया है। इस अकेले शब्द के प्रयोगक्षेत्र और महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए विद्वान् लेखक ने तीस प्रमाणों को उद्धृत किया है। यह बात जहाँ उनके व्यापक अध्ययन को सूचित करती है, वहीं इस बात का भी प्रमाण है कि लेखक किन ग्रन्थों को प्रमाण कोटि में मानता है। इनमें मुख्यतः वेद, उपनिषद् और गीता का समावेश हुआ है। वेदों में से यजुर्वेद में से तीन और ऋग्वेद में से एक प्रमाण, छान्दोग्य उपनिषद् में से दस, ईश-कठ-प्रश्नोपनिषदों में से एक-एक, मुण्डक में से दो, तैत्तिरीय में से एक, बृहदारण्यक में से चार और गीता में से दो प्रमाण उद्धृत किये गये हैं, किन्तु जो प्रमाण सर्वप्रथम उद्धृत किया गया है, वह गुरु-शिष्य-परम्परा से लिया गया है : 'ओङ्कारश्चाथशब्दश्च'। इसका मूलस्रोत प्रातिशाख्यसूत्रों में विस्तार से उपलब्ध होता है, जहाँ 'ओङ्कार' और 'अथ' का प्रयोग क्यों भिन्न-भिन्न स्थितियों में किया जाता है, इस तथ्य का स्पष्ट विवेचन है? इसी से यह परम्परा-श्लोक बना।

किन्तु इससे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि लेखक ने गीता को हेय कोटि में नहीं लिया है। इससे यह बात और अधिक स्पष्ट होती है कि वैदिक भावना को समझने के लिए हमें जहाँ ब्राह्मणोपनिषदादि से सहायता लेनी आवश्यक है, वहाँ गीता का महत्त्व भी उस दृष्टि से कम नहीं है। यही बात मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, रामायण आदि परतर ग्रन्थों के सम्बन्ध में है। 'आर्यावर्त' की व्याख्या के प्रसंग में इनमें से दो ग्रन्थों से प्रमाण उपस्थित किये गये हैं। 'मनुस्मृति' को तो स्वामी दयानन्द ने भी बहुत महत्त्व दिया था। इनसे अतिरिक्त स्वामीजी दर्शनग्रन्थों को भी अत्यधिक प्रामाणिक मानते थे। इनका उपयोग भी लेखक ने पूरी तरह किया है। इन सबसे बढ़कर महर्षि की मान्यताओं को महर्षि के ही शब्दों में अधिक स्पष्ट करने के लिए लेखक ने सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश, व्यवहारभानु आदि का भी पूरा उपयोग किया है। इस प्रकार इस लघु पुस्तिका में भी लेखक ने यथेष्ट प्रमाणों को मूल वैदिक परम्परा के अनुकूल ही जुटाने का प्रयास किया है। यह न केवल उनके अध्ययन की व्यापकता को सिद्ध करता है,

बल्कि इससे यह भी सिद्ध होता है कि महर्षि की प्रत्येक धारणा विशुद्ध वैदिक परम्परा पर आधारित थी।

ऊपर उल्लिखित प्रमाणग्रन्थों की कोटि में महाभारत और अध्यात्म रामायण का उल्लेख भी आवश्यक है। अन्तिम शब्द 'नमस्ते' की व्याख्या में लेखक ने इनके उद्धरणों को समाविष्ट किया है। इसी प्रकार पाणिनि एवं पतंजलि के व्याकरणग्रन्थों का भी पूरा उपयोग लेखक ने किया है। अभिप्राय यह कि जहाँ से भी वैदिक परम्परा की सम्पुष्टि होती मिली, लेखक ने उससे पूरा लाभ उठाया। यहाँ तक कि आवश्यकतानुसार यथावसर उन्होंने आंगल कवियों के उद्धरण भी दिये हैं।

शैली और भाषा :

यहाँ यह स्मर्तव्य है कि इस व्याख्या एवं प्रमाणपरक रचना में लेखक को अपनी लेखन-शैली का चमत्कार दिखाने का अवसर नहीं था। उनका कार्य केवल महर्षि द्वारा प्रदत्त परिभाषाओं के स्पष्टीकरण तक ही सीमित था और इस कार्य में वे पूर्णतः सफल रहे हैं, यद्यपि ऐसा करते हुए उनकी भाषा पर बहुधा स्वयं मूल लेखक की भाषा का प्रभाव व्यक्त हुआ है। ऋषि के एक अनन्य भक्त से ऐसी आशा होनी स्वाभाविक ही है। लेखक द्वारा ऐसी स्थिति में आत्माभिव्यक्ति का स्वातन्त्र्य उचित भी नहीं कहा जा सकता था।

उपसंहार :

विद्वान् लेखक के इस प्रयास को देखते हुए उनसे यह आशा रखना अधिक उचित होगा कि वे 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' में दिये गये इन एक सौ शब्दों में से छोटकर कुछ आवश्यक शब्दों या विषयों पर विस्तृत विवेचनात्मक विचार अपनी स्वतन्त्र शैली में भी करें, ताकि आजकल के पढ़े-लिखे नवयुवक उन्हें अपने अधिक अनुकूल पा सकें, क्योंकि एक ओर आज आर्यसमाजियों को जहाँ उनकी धरोहर से परिचित कराने की आवश्यकता है, वहीं नई पीढ़ी को इन विषयों से परिचित कराने और उनके प्रति आस्थावान् बनाने के प्रयासों की भी आवश्यकता है। आशा है कि लेखक तथा उनके अनुयायी विद्वान् इस दिशा में पूरा-पूरा ध्यान देंगे।

इति शम्

प्रकाशकीय

महाभारत-युद्ध के पश्चात् वेदों का प्रचार न्यून हो जाने के कारण भारतवर्ष में सैकड़ों वेद-विरुद्ध मत-मतान्तर फैल चुके थे। इनके कारण अन्धविश्वास, अधर्म, अज्ञान, अन्याय एवं अत्याचार में बड़ी तीव्र गति से वृद्धि हो रही थी। ऐसी दुरवस्था में उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में एक युगपुरुष महर्षि दयानन्द सरस्वती का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने वर्षों की तपस्या के पश्चात् वेदों में विशिष्ट विद्वत्ता प्राप्त करके अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी वैदिक सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए उन्होंने जो ग्रन्थ लिखे, उनमें से एक लघु ग्रन्थ 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' भी था। इस लघु ग्रन्थ से वेद के मूल सिद्धान्तों का यद्यपि काफी प्रचार हुआ, फिर भी यह ग्रन्थ अतिसंक्षिप्त परिभाषाओं के रूप में होने से, सामान्य लोगों को इसे समझने में कठिनाई का अनुभव होता था। सामान्य स्तर का व्यक्ति भी इसे सुगमता से समझ सके, एतदर्थ पूज्य स्वामी विद्यानन्दजी सरस्वती ने इस लघु ग्रन्थ में स्थित वैदिक सिद्धान्तों की सरल एवं विस्तृत व्याख्या तैयार की। उनकी वही व्याख्या प्रस्तुत पुस्तक के रूप में आपके हाथों में है। पूज्य स्वामी विद्यानन्दजी सरस्वती लेखन, प्रचार आदि के माध्यम से अपने ज्ञान-विज्ञान को जन-सामान्य तक पहुँचाने-जैसे पवित्र कार्य में लगे ही रहते हैं। पूज्य स्वामीजी द्वारा रचित / व्याख्यात पुस्तकों की सूची अन्त में देखी जा सकती है।

मैं [चौधरी सूरजमल भगवानदेवी धर्मार्थ न्यास का अध्यक्ष] पूज्य स्वामीजी के पास समय-समय पर जाकर शंका-समाधान, सत्संग, परामर्श आदि के माध्यम से लाभ उठाता रहता हूँ। एक बार जब पूज्य स्वामीजी ने इस व्याख्या के प्रकाशन की चर्चा की तो मैंने इसे न्यास की ओर से प्रकाशित कराना सहर्ष स्वीकार कर लिया। न्यास का मुख्य उद्देश्य प्राचीन आयुर्वेदशास्त्र का पठन-पाठन, आयुर्वेदिक पद्धति से निःशुल्क चिकित्सा की सुविधा, वैदिक साहित्य का प्रणयन, प्रकाशन व वितरण करना-कराना है। इस न्यास का गठन सन् १९८६ ई० (विक्रम संवत् २०४२) में पूज्या माता भगवानदेवीजी साहिबाबाद, दौलतपुर के द्वारा दान दी गई सात्त्विक धन-राशि से किया गया था। स्व० पू० स्वामी प्रेमानन्दजी सरस्वती एवं आचार्य ज्ञानेश्वरार्यजी द्वारा दी गई सत्प्रेरणाओं के फलस्वरूप लोक-कल्याण के कार्यों हेतु इस धन-राशि को स्वीकार

करके न्यास का कार्य आरम्भ किया गया।

न्यास के उद्देश्यों के अनुरूप इस पुस्तक का प्रकाशन कराकर इसे जन-जन तक पहुँचाने का यह एक लघु प्रयास है। न्यास को आशा एवं विश्वास है कि जो-जो व्यक्ति इसे ध्यान एवं श्रद्धा से पढ़ेंगे, वे-वे अवश्य लाभान्वित होंगे। यदि कुछ व्यक्ति भी इससे लाभ उठा सके, तो व्याख्याकार का परिश्रम तथा न्यास का प्रकाशन सफल होगा।

ग्रन्थ की भूमिका वेदों के प्रसिद्ध विद्वान् डॉक्टर सत्यकाम आयुर्वेदालंकार (पूर्व कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय) ने लिखकर उसे जो गौरव प्रदान किया है, उसके लिए हम उनके हृदय से कृतज्ञ हैं।

श्री स्वामी जगदीश्वरानन्दजी सरस्वती का भी न्यास बहुत आभारी है एवं उनका धन्यवाद करता है, जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन के कार्यों में अनेक प्रकार से सहयोग किया तथा प्रूफ-संशोधन आदि भी किया।

विदुषामनुचरः

ब्र० हंसराज आर्य

अध्यक्ष

चौ० सूरजमल भगवानदेवी धर्मार्थ न्यास

तिथि :

१५-१०-९४

साहिबाबाद-दौलतपुर

दिल्ली-११००४२

आर्यसिद्धान्त विमर्श

ओ३म्

अज्ञातकाल से गुरु-शिष्य परम्परा से एक श्लोक चला आता है—

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावैतौ ब्रह्मणः पुरा।

कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुमौ ॥

इस प्रकार ओम् शब्द के प्रयोग को मांगलिक माना जाना भारतीय साहित्य में परम्परागत है। ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए ओम् लिखकर इसी परम्परा का अनुसरण किया गया है। वेद-शास्त्रों में ओङ्कार शब्द यदि प्रारम्भ में उच्चरित हो तो उसकी 'टि' को प्लुत किया जाता है, ऐसा वैदिकों का नियम है और उसके द्योतन के लिए 'ओ३म्' इस प्रकार लिखा जाता है। यहाँ प्लुत निर्देश होने पर भी अभिप्राय शुद्ध 'ओम्' पद से है, क्योंकि शास्त्रों में वह प्रायः इसी रूप में उपलब्ध होता है। तद्यथा—

ओ३म् क्रतो स्मर कृतं स्मर। —यजुः० ४०।१५

ओम् खं ब्रह्म। —यजुः० ४०।१७

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आ गत।

दाश्वांसो दाशुषः सुतम् ॥ —ऋ० १।३।७।

मनोजूतिर्जुषतामाजस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टम्।

यज्ञं समिमं दधातु विश्वे देवास इह मादयन्तामो३म्प्रतिष्ठ ॥

—यजुः० २।१३

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत। —छान्दोग्य० १।१।१

ओमिति ह्युदगायति। —तदेव १।४।१

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथः। —तदेव १।१।५

एतन्मिथुनम्, ओम् इत्येतस्मिन्नक्षरे संसृज्यन्ते। —तदेव १।१।६

यद्धि किञ्चानुजानाति ओमित्येव तदाह। —तदेव १।१।८

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत। —तदेव १।४।१

यदा वा ऋचमाप्नोति ओम् इत्येवातिस्वरति। —तदेव

ओमिति ह्येष स्वरन्नेति। —तदेव १।५।१

ओ३म् अदो३म्, ओ३म् पिबा३म्, ओ३म् देवः.....अन्नमिहाहरा
हर, ओ३म् इति । —तदेव १।१२।५

स ओम् इति वा होद्वा मीयते । —तदेव ८।६।५

ओ३म् क्रतो स्मर । —ईश० १७

तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि, ओमित्येतत् । —कठ० २।१५

पुनरेतं त्रिमात्रेण, ओमित्येतैनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत ।

—प्रश्न० ५।५

तमोङ्क्षरेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं
परं चेति । —तदेव ५।७

ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम् । —मुण्डक० २।२।६

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् । —माण्डूक्य० १

ओमिति ब्रह्म ओमितीदं सर्वम्, ओमित्येदनुकृति हस्म वा
अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति, ओमिति सामानि गायन्ति, ओम् शोमिति
शस्त्राणि शंसन्ति, ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति, ओमिति
ब्रह्मा प्रस्तौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति, ओमिति ब्राह्मणः
प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्मावानीति, ब्रह्मैवोपाप्मोति । —तैत्तिरीय० १।८।१

ओमिति होवाच—५।९।७ (यहाँ ७ बार आया है), ओं खं
ब्रह्म —५।१।१, ओमिति होवाच —५।२।१, २, ३, ५, ६।२।१।
ओं क्रतो स्मर—बृहद्० ५।१५।१।

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः । —गीता १७।२३

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः । —तदेव १७।२४

१. ईश्वर

जिसके गुण-कर्म-स्वभाव और स्वरूप सत्य ही हैं, जो
केवल चेतनमात्र वस्तु है तथा जो एक, अद्वितीय, सर्व-
शक्तिमान्, निराकार, सर्वव्यापक, अनादि और अनन्त आदि
सत्यगुणवाला है, और जिसका स्वभाव अविनाशी, ज्ञानी,
आनन्दी, शुद्ध, न्यायकारी, दयालु, और अजन्मादि है,
जिसका कर्म जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश करना,
तथा सर्व जीवों को पाप-पुण्य के फल ठीक-ठीक पहुँचाना
है, उसको 'ईश्वर' कहते हैं।

व्याख्या—(अद्वितीय) अद्वितीय ईश्वर का विशेषण है। यदि किसी के विषय में यह कहा जाए कि वह अद्वितीय विद्वान् है, तो इसका इतना ही अभिप्राय है कि उसके समान अन्य कोई विद्वान् नहीं है, यह नहीं कि उसके अतिरिक्त कोई विद्वान् नहीं है। इसी प्रकार ईश्वर को अद्वितीय कहने का इतना ही अभिप्राय है कि सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद से शून्य होने के कारण ईश्वर के सदृश अन्य कोई नहीं है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का सजातीय है और वृक्ष पशवादि का विजातीय है। एक ही शरीर में स्थित आँख, कान, नाक, हाथ, पैर आदि विभिन्न अंगों में जो भेद है, वह स्वगत भेद है। जीवात्मा ईश्वर का सजातीय है, क्योंकि दोनों ही चेतन हैं और अनेक बातों में एक-दूसरे के समान हैं। फिर भी ईश्वर का अपना वैशिष्ट्य है, जिसके कारण वह अपने सजातीय जीव से भिन्न है। जहाँ जीव अनेक हैं, वहाँ ईश्वर केवल एक है। ईश्वर के समान प्रकृति नित्य है, किन्तु नित्य होते हुए भी प्रकृति जड़ एवं परिणामी है। प्रकृतिस्थ तत्त्व भी अनेक हैं। इसके विपरीत ईश्वर चेतन, अपरिणामी तथा एक है। इस प्रकार विजातीय प्रकृति से भी ईश्वर का वैशिष्ट्य है और परिणामतः वह अद्वितीय है। ईश्वर निरवयव तथा अखण्ड है। इसलिए उसमें स्वगत भेद भी नहीं है। इस प्रकार ईश्वर को अद्वितीय कहने का इतना ही अभिप्राय है कि सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदशून्य होने के कारण ईश्वर के सदृश अन्य कोई नहीं है। ईश्वर के गुण अपने स्वरूप में निरपेक्ष हैं, वह हर प्रकार से पूर्ण है। उत्कर्ष में न कोई उससे बढ़कर है और न उसके समान है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ईश्वर से भिन्न पृथिवी आदि जड़ पदार्थों तथा मनुष्य, पशवादि चेतन पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं है। ईश्वर को 'एकमेवाद्वितीयम्' (६।२।२) कहकर छान्दोग्योपनिषत्कार ने मानो अर्थवेद के एतिद्विषयक निम्न मन्त्र को सूत्रबद्ध कर दिया है—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।

न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते।

स एक एव एकवृदेक एव॥

—अथर्व० १३।४।१६-२०

अर्थात् ईश्वर न दो हैं, न तीन हैं, न चार, न पाँच, न छह, न सात, न आठ, न नौ और न दस। वह एक है, एक ही है।

"The Vedic Hymns are chanted to the one deity under many names—names which are used and even designed to express his qualities and powers. Was this Dayananda's arbitrary concept, fetched out of his ingenious imagination? Not at all. It is the explicit statement of Veda itself."

—Aurobindo : Bankim, Tilak and Dayananda.

"In the eyes of the Hindus, there is but only one Supreme God. This was stated long ago in the Rigveda in the following words. —*Ekam sadvipra bahudha vadanti* (एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति—Rig. 1.164.46) which may be translated as—"The sages name the One Being variously".

—An Englishman defends Mother India by Ernest Wood, P. 128.

(सर्वशक्तिमान्) ईश्वर के सर्वशक्तिमान् होने का अर्थ है कि सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करना, सब जीवों को उनके पूर्वकृत कर्मों के अनुसार फल देना आदि अपने स्वाभाविक कर्मों का सम्पादन करने में उसे किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं। इन्हें वह अपने अनन्त सामर्थ्य से कर लेता है, किन्तु अपने गुण-कर्म-स्वभाव के विपरीत कुछ नहीं कर सकता। कारण के बिना कार्य, अभाव से भाव की उत्पत्ति, अपने को मारकर किसी अन्य को ईश्वर बना देना आदि ऐसे अनेक कार्य हैं जिन्हें वह नहीं कर सकता। इंग्लैंड के ईसाई सन्त व विचारक सेंट टामस का कहना है—

"He cannot undo the past, commit sin, make another God or make himself not exist."

—History of Western Philosophy, P. 480.

अर्थात् परमेश्वर अतीत को अन्यथा नहीं कर सकता, पाप में प्रवृत्त नहीं हो सकता और न अपने-आपको मिटाकर किसी दूसरे को ईश्वर बना सकता है।

प्लेटो ने भी किंचित् भिन्न शब्दों में इसी बात को कहा है—

"Well, but can you imagine God willing to lie, whether in words or in deeds or to put forth a phantom of himself."

—See Republic in 'Five Great Dialogues' Tr. by B. Jowett, P. 285.

परमात्मा मिथ्याचरण नहीं कर सकता; न कोई ऐसा कार्य कर सकता है, जो उसके शुद्ध गुणों के विपरीत हो, और न अपने स्थान पर कोई झूठ-मूठ का ईश्वर बना सकता है।

इंग्लैंड के पादरी एंसलम (Anselam) ने पूछा था—"Can God restore virginity to a prostitute?"

क्या ईश्वर किसी वेश्या को उसका कौमार्य लौट सकता है?

इसलिए अपने करने के कार्यों को बिना किसी की सहायता के करने में समर्थ होना ही सर्वशक्तिमान् शब्द का तात्पर्य है।

निराकार—वेदादि समस्त शास्त्रों में ईश्वर को निराकार—अमूर्त—निरवयव बताया है। अवयवों के संयोग से बननेवाला संयोग से पूर्व नहीं होता और वियोग के पश्चात् नहीं रहता। फलतः जो संयोगज है, वह अनादि-अनन्त=नित्य नहीं हो सकता। जो शरीर जिस पुरुष से सम्बद्ध होता है, उसका निर्माता वह पुरुष स्वयं नहीं होता, उससे भिन्न कोई व्यक्ति होता है। यदि दुर्जनतोषन्याय से यह मान लिया जाए कि सर्वशक्तिमान् होने से ईश्वर अपना शरीर स्वयं बना लेता है तो शरीर धारण करने से पूर्व उसका निराकार होना स्वतः सिद्ध है। फिर यदि ईश्वर अपने शरीर की रचना शरीरी हुए बिना कर सकता है तो बिना शरीर के जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय क्यों नहीं कर सकता? यदि ईश्वर साकार=शरीरी होगा तो वह एकदेशी हो जाएगा। एकदेशी होने पर वह सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, आदि कुछ भी न रहेगा, क्योंकि जहाँ कर्ता नहीं होता वहाँ क्रिया नहीं होती। वेदादि शास्त्रों में जहाँ ईश्वर के देहांगों का वर्णन मिलता है, वह मात्र औपचारिक (आलंकारिक) है।

अनादि-अनन्त—अजन्मा होने से ईश्वर अनादि है और अविनाशी होने से अनन्त। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' (गीता)—जो पैदा होता है वह कभी-न-कभी मरता अवश्य है और जो मरता है उसका पुनर्जन्म अवश्य होता है। ईश्वर नित्यमुक्त होने से जन्म-मरण के बन्धन से परे है।

न्यायकारी-दयालु—आपाततः परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले न्याय और दया का प्रयोजन एक होने से उनमें तात्त्विक भेद न होकर नाममात्र का ही अन्तर है। जिसने जितना बुरा कर्म किया उसे उतना और वैसा ही दण्ड देना 'न्याय' है। 'दण्ड' देने का प्रयोजन है मनुष्य को अपराध में प्रवृत्त होने से रोककर उसे और समाज को उससे होनेवाले दुःख से बचाना। दया का प्रयोजन भी किसी को दुःख से छुड़ाना है। अपराधी को दण्ड न देने को यदि दया मान लिया जाए तो प्रकारान्तर से वह निर्दयता के रूप में उभरकर सबके दुःख का कारण बनेगी। एक डाकू को न्यायपूर्वक दण्ड न देकर दया के नाम पर उसे छोड़ देने का अर्थ होगा उसे सहस्रों मनुष्यों को दुःख देने की छूट देना और

स्वयं उसे भी दुःख पाने के लिए पाप-कर्म में प्रवृत्त होने का अवसर देना। ऐसा करने से दया कहाँ हुई ? डाकू को कारागार में रखकर उसे पाप करने से बचाने और सहस्रों मनुष्यों की उसके अत्याचारों से रक्षा करने में दया भी है और न्याय भी। जीवों के कल्याणार्थ संसार में नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ उत्पन्न करना उसकी 'दया' और पूर्वकृत कर्मों के अनुसार संसारस्थ प्राणियों में सुख-दुःख की व्यवस्था करना उसका 'न्याय' है। इसी प्रकार मन में सबको सुखी करने की इच्छा और क्रिया करना 'दया' और बाह्य चेष्टा अर्थात् यथावत् दण्ड देना 'न्याय' कहाता है। इस प्रकार दोनों का लक्ष्य एक होने से दया और न्याय में परस्पर विरोध उपपन्न नहीं होता।

नाहेतुकं दुःखम्—कर्म में प्रवृत्त होना जीवात्मा का स्वभाव है। धर्म में प्रवृत्त होने और अधर्म से विरत होने की प्रेरणा करना ईश्वरीय व्यवस्था है। इस प्रकार की व्यवस्था होने पर भी शुभ कर्मों के निमित्त प्रोत्साहन देने और अशुभ कर्मों से विरत करने के लिए क्रमशः पुरस्कार व दण्ड दिया जाता है। ईश्वरीय व्यवस्था में वह सुख-दुःख के रूप में प्राप्त होता है। दोनों का प्रयोजन एक है—मनुष्य का कल्याण। सुख-दुःख आदि के रूप में कार्य को प्रत्यक्ष देखकर उसके कारण पाप-पुण्य का शेषवत् अनुमान द्वारा निश्चय होता है। जैसे रोगग्रस्त होने पर रोगी यह अनुभव करता है कि यह किसी कुपथ्य का परिणाम है, वैसे ही संसार में व्याप्त सुख-दुःख और विषमता को देखकर सब कोई उनके कारण पाप-पुण्य का अनुमान कर लेते हैं। अपने-आपको या दूसरों को दुःखी देखकर और इसका कारण अशुभ कर्मों को जानकर मनुष्य को दुष्ट कर्मों से दूर रहकर सत्कर्मों में प्रवृत्त होने में सहायता मिलती है।

जगत् की उत्पत्त्यादि—वेदान्तदर्शन का आरम्भ ब्रह्म-जिज्ञासा से होता है—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (१।१।१)—हम ब्रह्म को जानना चाहते हैं। महर्षि वेदव्यास जिज्ञासुओं को ब्रह्म का परिचय यह कहकर देते हैं—'जन्माद्यस्य यतः' (१।१।२)—ब्रह्म (ईश्वर) वह है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति आदि होती है। इस सूत्र की व्याख्या तैत्तिरीयोपनिषद् के निम्न वचन में उपलब्ध है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।

यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ॥

—तै० उप० ३।१

अर्थात् जिससे यह प्राणि-अप्राणिरूप जगत् उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर जिसके आश्रय जीता, और जिसके द्वारा अन्त में लीन होता है, उसे जानने की इच्छा करो, वह ब्रह्म है। यहाँ यह स्पष्ट है कि जिसकी उत्पत्ति आदि (आदि=स्थिति व प्रलय) होती है वह जगत् है और जो उसकी उत्पत्ति आदि में निमित्तकारण है, वह उससे भिन्न ब्रह्म है।

‘सम्बन्ध’ शब्द में ही कम-से-कम दो सत्ताओं का भाव निहित है, जब ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति आदि के कारण दोनों में परस्पर सम्बन्ध है तो उन्हें दो सत्ताएँ मानना होगा—स्वप्न एवं सृष्टि। सत्=यथार्थ का असत्=मिथ्या से सम्बन्ध होना कल्पनातीत है। स्वयं शंकराचार्य की स्पष्ट घोषणा है—‘सतोर्हि द्वयोः सम्बन्धः सम्भवति, न सदसतोरसतोर्वा’। (शा०भा० २।१।१८) पुनः माण्डूक्योपनिषद् (२।७) पर शंकरभाष्य में कहा गया है—‘न हि सदसतोः सम्बन्धः’। इस प्रकार दो सत्पदार्थों के बीच में ही सम्बन्ध होने से एक (ईश्वर) को ‘सत्’ और दूसरे (जगत्) को ‘असत्’ नहीं माना जा सकता। इस प्रकार ‘ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या’ वचन ही मिथ्या ठहरता है।

पाप-पुण्य फल की व्यवस्था—कर्मफल अवश्यम्भावी है, किन्तु जड़ होने से कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते, क्योंकि जड़ पदार्थ नियम से संयुक्त नहीं हो सकते। दूध को दही का रूप देने के लिए उसे उष्णता देकर उपयुक्त मात्रा में खटई मिलानेवाला तीसरा चेतन होता है। इसी प्रकार जीवों को उनके कर्मफल से संयुक्त करने के लिए किसी सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् सत्ता का होना आवश्यक है। अल्पज्ञ होने से जीवात्मा अपने कर्मों को यथावत् नहीं जान सकता जो फलोपभोग की व्यवस्था के लिए अपेक्षित है। कोई भी जीव अपने अशुभ कर्मों के फलस्वरूप दुःख भोगना नहीं चाहता। कोई भी मनुष्य निकृष्ट योनियों में अथवा मनुष्य योनि में भी किसी दरिद्र के घर में जन्म लेना नहीं चाहता। अपराध करके कोई भी स्वयं बन्दीगृह में नहीं जाता, किन्तु राज्य व्यवस्था से पकड़ा जाकर ही बलात् धकेला जाता है। शंकर ने कहा है—“न हि कश्चिदप्यपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मानः कृत्वाऽनुप्रविशति” (शा०भा० २।१।२१) अर्थात् कोई भी स्वतन्त्र व्यक्ति अपने लिए बन्धनागार (कारागार) बनाकर उसमें आप नहीं जा बैठेगा। इसलिए जीवेतर कोई शक्ति इस कार्य को न करे तब तक कर्मफल की यथार्थ व्यवस्था नहीं हो सकती।

‘भोगार्थं दृश्यम्’—कर्मफल भोगने के लिए साधनरूप यह सृष्टि

है जिसकी रचना जीव के नहीं ईश्वर के अधीन है। यदि कोई जीवविशेष इसका रचयिता होता तो वह वैसी ही वस्तुओं को बनाता जो उसके अनुकूल होतीं—बार-बार जन्म-मरण, वृद्धावस्था, रोग आदि विरुद्ध वस्तुओं को कभी न बनाता। डेकोर्ट ने लिखा है—

If I were myself the author of my being, I should have bestowed on myself every perfection of which I possess the idea and I should thus be God. —Meditations, P. iii.

श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।११) में ईश्वर को कर्माध्यक्ष के नाम से पुकारा गया है। सब जीवों के पाप-पुण्य की समुचित व्यवस्था करने के कारण ईश्वर को 'अर्यमा' कहते हैं। इसी प्रकार प्राणियों के कर्मफल का नियमन करने से उसकी संज्ञा 'यम' है और दण्डित व्यक्तियों को रुलाने के कारण वह 'रुद्र' कहाता है।

आर्यसमाज के दूसरे नियम में ऋषि ने ईश्वर के सभी मुख्य गुणों को एकत्र करके कहा है—

ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

सत्यार्थप्रकाश के अन्तर्गत स्वमन्तव्यामन्तन्तव्यप्रकाश (१) में ग्रन्थकार ने लिखा है—

(ईश्वर) जिसके ब्रह्म, परमात्मा आदि नाम हैं, जो सच्चिदानन्द आदि लक्षण युक्त है, जिसके गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्ता-धर्ता-हर्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त हैं, उसी को परमेश्वर मानता हूँ।

(ईश्वर का स्वरूप)—ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए योगदर्शन में बताया है। "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" (१।२४)—अविद्यादि क्लेश, शुभाशुभ कर्म, कर्मफल, तथा आशय (अनादिकाल से संचित कर्मों का भण्डार) इन सबके सम्बन्ध से सर्वथा अछूते चेतन आत्मतत्त्वविशेष का नाम ईश्वर है।

'पुरुष' पद का प्रयोग जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिए किया जाता है। जैसा चेतनतत्त्व जीवात्मा है, वैसा ही चेतनतत्त्व परमात्मा है। उनके चेतनस्वरूप में कोई भी अन्तर नहीं है, परन्तु जीवात्मा अल्पज्ञ,

अल्पशक्ति, परिछिन्न परिमाण है और अधर्म, अज्ञान, मिथ्याज्ञान, प्रमाद, राग-द्वेष आदि से अभिभूत हो जाता है। इसके विपरीत ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, महत्परिमाण, सत्यसंकल्प आदिवाला है तथा अधर्मादि से कभी अभिभूत नहीं होता। इस प्रकार जीवात्मा के समान चेतन होने पर भी क्लेशादि जीवात्मधर्मों से सर्वथा अलिप्त रहने के कारण उससे अत्यन्त विशिष्ट तत्त्व ईश्वर है।

ईश्वर के स्वरूप का सर्वोत्तम वर्णन यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के आठवें मन्त्र में हुआ है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्त्राविरः शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

२. धर्म

जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन और पक्षपातरहित न्याय सर्वहित करना है, जोकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के लिए यही एक मानने योग्य है, उसको 'धर्म' कहते हैं।

व्याख्या—यहाँ धर्माधर्म का निश्चय करने के लिए वेद का प्रमाण सर्वोपरि माना गया है, वैशेषिकदर्शन के अनुसार—'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' (१।१।२)—जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि होती है, वह धर्म है। उस धर्म को पूर्वमीमांसा (१।१।२) में वेद द्वारा प्रेरित बताया गया है—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'। सभी ऋषि-मुनि अनादिकाल से वेद को ही धर्म का आदिस्त्रोत मानते आये हैं, तद्यथा—

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। —मनु० २।६

वेदो धर्ममूलम्। —गौतमधर्मसूत्र १।१।२

धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। —मनु० २।१३

न हि वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।

निःसृतं धर्मशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात् ॥ —याज्ञवल्क्य

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ —मनु० २।७

श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै । —२।८

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।

एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥

—सायण० तै० संहिताभाष्य

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः । —भागवत ६।१।४०

वेदप्रमाणविहितं धर्मं च ब्रवीमि ते । —महा० शान्ति० २७०।१८

वेदः प्रमाणं लोकानाम् । —महा० शान्ति० २७०।१८

श्रुतिप्रामाण्याच्च । —न्याय० ३।१।२९

वैशेषिके—वेदलिङ्गाच्च । —४।२।११

सांख्ये—वैदिकं च । —५।२।१०

वेदान्ते—श्रुतत्वाच्च । —१।१।११

सांख्ये—श्रुतिश्च । —३।८०

श्रुत्या सिद्धस्य नापलापः । —१।१।१२

अन्यच्च—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

—मनु० २।१२

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च ।

तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्निजः ॥

—मनु० १।१०८

इस प्रकार मुख्यतः वेद और स्मृति में प्रतिपादित आचार ही धर्म है। इसी धर्माचार में प्रवृत्त रहना चाहिए।

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।

इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥

जो मनुष्य वेदोक्त धर्म और वेदाविरुद्ध स्मृत्युक्त धर्म का अनुष्ठान करता है वह इस लोक में कीर्ति और परलोक में परमसुख (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

यदि कभी वेद और स्मृति में विरोध जान पड़े तो वेद को प्रमाण माना जाएगा, स्मृति को नहीं—‘श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी’।

जो वेदविहित धर्म है, वही ईश्वर की आज्ञा है जिसके पालन करने का निर्देश यहाँ किया गया है।

(सदाचारः व प्रियमात्मनः) — मनुस्मृति में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।

हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥ — मनुः० २।१

जिसका सेवन राग-द्वेषरहित विद्वान् लोग नित्य करते हैं और जिसे हृदय सत्कर्तव्य के रूप में स्वीकार करे, वही माननीय तथा वरणीय धर्म है।

इसका अनुमोदन करते हुए व्यासजी लिखते हैं—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

धर्म का सार यह है कि मनुष्य किसी के प्रति वह व्यवहार न करे जो उसे अपने प्रति स्वीकार न हो।

न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।

एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्त्तयेत् ॥

—म० अनु० ११३।६

मनुष्य औरों के साथ ऐसा व्यवहार न करे जैसा उसे स्वयं अपने लिए प्रतिकूल जान पड़े।

(प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित) — स्वरचित व्यवहारभानु में ऋषि ने सत्यासत्य की परीक्षा के लिए पाँच उपाय लिखे हैं। उनमें से (प्रथम) — ईश्वर, उसके गुण-कर्म-स्वभाव और वेदविद्या। दूसरा — सृष्टिक्रम। तीसरा — प्रत्याक्षादि आठ प्रमाण। चौथा — आत्मा का आचार, उपदेश, ग्रन्थ और सिद्धान्त और पाँचवाँ — अपने आत्मा की साक्षी, अनुकूलता, जिज्ञासुता, पवित्रता और विज्ञान।

ईश्वरादि से परीक्षा करना उसे कहते हैं कि जो-जो ईश्वर, ईश्वर के न्याय आदि गुण, पक्षपातरहित सृष्टि बनाने का कर्म और सत्य, न्याय, दयालुता, परोपकारता आदि स्वभाव और वेदोपदेश से सत्य और धर्म ठहरे वही सत्य और धर्म और जो-जो असत्य और अधर्म ठहरे, वही असत्य, अधर्म है। जैसे कोई कहे कि बिना कारण और कर्ता के कार्य होता है, सो सर्वथा मिथ्या जानना। इससे यह सिद्ध होता है कि जो सृष्टि की रचना करनेहारा पदार्थ है वही ईश्वर, और उसके गुण-कर्म-स्वभाव, वेद और सृष्टिक्रम से ही निश्चित जाने जाते हैं।

दूसरा सृष्टिक्रम — उसको कहते हैं कि जो-जो सृष्टिक्रम अर्थात्

सृष्टि के गुण-कर्म-स्वभाव के विरुद्ध हो वह मिथ्या और जो अनुकूल हो वह सत्य कहाता है। जैसे कोई कहे कि बिना माँ-बाप (मैथुनी सृष्टि में) के लड़का, कान से देखना, आँख से सुनना या बोलना आदि हुआ—ऐसी-ऐसी बातें सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से मिथ्या, और माता-पिता से सन्तान, आँख से देखना, कान से सुनना आदि सृष्टिक्रम के अनुकूल होने से सत्य ही हैं।

तीसरा—प्रत्यक्ष आदि आठ प्रमाणों से परीक्षा करना उसको कहते हैं कि जो-जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ठीक-ठीक ठहरे वह सत्य और जो-जो विरुद्ध ठहरे वह मिथ्या समझना चाहिए। जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह क्या है? दूसरे ने कहा कि—पृथिवी। यह 'प्रत्यक्ष' है। इसको देखकर इसके कारण का निश्चय करना, यह 'अनुमान'। जैसे बिना बनानेहारे के घर नहीं बन सकता वैसे ही सृष्टि का बनानेहारा ईश्वर भी बड़ा कारीगर है, यह दृष्टान्त उपमान और सत्योपदेशों का उपदेश, यह 'शब्द'। भूतकालस्थ पुरुषों की चेष्टा, सृष्टि आदि पदार्थों की कथा आदि को 'एतिह्य'। एक बात को सुनकर बिना कहे सुने प्रसंग से दूसरी बात को जान लेना, यह 'अर्थापत्ति'। कारण से कार्य होना आदि को 'सम्भव' और आठवाँ 'अभाव' अर्थात् किसी ने किसी से कहा कि जल ले-आ। उसने वहाँ जल के अभाव को जानकर तर्क से जाना कि जहाँ पर जल है वहाँ से लाकर देना चाहिए, यह 'अभाव' प्रमाण कहाता है। इन आठ प्रमाणों से जो-जो विपरीत न हो वह सत्य और जो-जो उल्टा हो वह-वह मिथ्या जानो।

चौथा—आप्तों के आचार और सिद्धान्त से परीक्षा करना उसको कहते हैं कि जो-जो सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी, पक्षपातरहित, सबके हितैषी विद्वान् सबके सुख के लिए प्रयत्न करें, वे धार्मिक लोग 'आप्त' कहाते हैं। उनके उपदेश, आचार, ग्रन्थ और सिद्धान्त से जो युक्त हो वह सत्य और जो विपरीत हो वह मिथ्या है।

पाँचवीं—'आत्मा से परीक्षा' उसको कहते हैं कि जो-जो अपना आत्मा अपने लिए चाहे, सो सबके लिए चाहना। और जो-जो न चाहे, सो-सो किसी के लिए न चाहना। जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा क्रिया में होने को जानने-जानने की इच्छा, शुद्धभाव और विद्या के नेत्र से देखकर सत्य और असत्य का निश्चय करें। इन पाँच प्रकार की परीक्षाओं से सत्यासत्य का निर्णय करके सब मनुष्य धर्म का ग्रहण और अधर्म का परित्याग करें और करावें।

३. अधर्म

जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा को छोड़कर और पक्षपातसहित अन्यायी होके बिना परीक्षा करके अपना ही हित करना है, जो अविद्या, हठ, अभिमान, क्रूरतादि दोषयुक्त होने के कारण वेदविद्या से विरुद्ध है और सब मनुष्यों को छोड़ने के योग्य है, वह अधर्म कहाता है।

व्याख्या—जो धर्म के विपरीत है, वह 'अधर्म' है।

धर्म-अधर्म—दोनों का एकत्र लक्षण सत्यार्थप्रकाश (समु०३) में इस प्रकार उपलब्ध है—

“जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्याग, उसी का नाम 'धर्म' और इसके विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग, और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसी को 'अधर्म' कहते हैं”। दोनों का इसी से मिलता-जुलता लक्षण 'व्यवहारभानु' में इस प्रकार किया गया है—“जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, पाँचों परीक्षाओं के अनुकूल आचरण, ईश्वराज्ञा का पालन, परोपकार करना 'धर्म' और इसके विपरीत 'अधर्म' कहाता है, क्योंकि जो सबके अविरुद्ध वह 'धर्म' और जो परस्पर विरुद्धाचरण है, सो 'अधर्म' क्योंकर न कहाएगा?”

देखो—किसी ने किसी से पूछा कि सत्य क्या है? उसने उसको उत्तर दिया—‘जो मैं मानता हूँ’। फिर उसने पूछा—‘और जो वह मानता है वा जो मैं मानता हूँ, वह क्या है?’ उसने कहा कि अधर्म है। यही पक्षपात से मिथ्या और विरुद्धाचरण 'अधर्म' है। और जब तीसरे ने दोनों से पूछा कि 'सत्य बोलना धर्म है या असत्य बोलना'? तब दोनों ने उत्तर दिया कि सत्य बोलना 'धर्म' और असत्य बोलना 'अधर्म' है। इसी को 'धर्म' जानो।”

सत्याऽसत्य की परीक्षा के लिए जिज्ञासु को इसी उपाय को अपनाने का सुझाव अधिक विस्तार से सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में दिया है।

‘स्वमन्तव्यामन्तव्य’ में ऋषि लिखते हैं—(धर्माधर्म)—जो पक्षपात-रहित न्यायाचरण, सत्यभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको 'धर्म' और जो पक्षपातसहित, अन्यायाचरण, मिथ्याभाषणादि, ईश्वराज्ञाभंग वेदविरुद्ध है, उसको अधर्म मानता हूँ।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वेदोक्तधर्मविषयः' में ग्रन्थकार ने लिखा है—

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥

—अथर्व० १२।५।७

(ओजश्च) धर्म के पालन से युक्त जो पराक्रम (तेजश्च) प्रगल्भता अर्थात् भ्रमरहित होके दीनता से दूर रहना, (सहश्च) सुख-दुःख, हानि-लाभ, आदि की प्राप्ति में भी हर्ष-शोकादि छोड़के सत्यधर्म में दृढ़ रहना, दुःख का निवारण और सहन करना, (बलं च) ब्रह्मचर्य आदि अच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य, बुद्धि की चतुराई आदि, बल का बढ़ाना (वाक् च) सत्यविद्या की शिक्षा, सत्य, मधुर अर्थात् कोमल प्रिय-भाषण का करना, (इन्द्रियं च) जो मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय हैं उनको पाप-कर्मों से रोककर सदा सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रखना, (श्रीश्च) चक्रवर्ती राज्य की सामाग्री को सिद्ध करना, (धर्मश्च) जो वेदोक्त न्याय से युक्त होके पक्षपात को छोड़के, सत्य का सदा आचरण और असत्य का त्याग करना है तथा जो सबका उपकार करनेवाला, और जिसका फल इस जन्म और परजन्म में आनन्द है उसी को धर्म और उससे उलट करने को 'अधर्म' कहते हैं। उसी धर्म की व्याख्या है कि जो (ऋ०भा०भू० में वेदोक्तधर्मविषय में) 'सं गच्छध्वम्०' इस मन्त्र से लेके 'यतोऽभ्युदय०' इस सूत्र तक जितने धर्म के लक्षण हैं, वे सब मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य हैं।

४-५. पुण्य-पाप

जिसका स्वरूप विद्यादि शुभगुणों का दान और सत्यभाषणादि सत्याचार का करना है, उसको 'पुण्य' कहते हैं।

जो पुण्य से उलटा और मिथ्याभाषणादि करना है उसको 'पाप' कहते हैं।

व्याख्या—वेद तथा वेदानुकूल स्मृत्यादि विहित कर्मों का अनुष्ठान करना पुण्य तथा तद्विपरीत आचरण करना पाप है—“संश्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि।” —अथर्व० १।१।४

ईश्वरसिद्धि में एक युक्ति पुण्य में प्रवृत्ति तथा पाप से विरति की प्रेरणा है जो ईश्वरीय मानी जाती है। जो आचरण किया जा रहा है, वह पुण्य है या पाप, शुभ है या अशुभ—ऐसे विवेचनापूर्ण तथ्य का स्पष्ट होना ईश्वर का स्वरूप कहा जाता है। प्रत्येक मनुष्य यह अनुभव

करता है कि उसके भीतर कोई ऐसा मार्गदर्शक बैठा है जो पाप-पुण्य का ज्ञान कराता रहता है। बड़े-से-बड़े पापी के मन में भी पाप में प्रवृत्त होते समय भय, शंका और लज्जा का तथा पुण्य करते समय अभय, निःशंकता तथा आनन्दोत्साह का अनुभव हुए बिना नहीं रहता। हृदयस्थ भगवान् (एष प्रजापतिर्यद् हृदयमेतद् ब्रह्म—बृहद् ० ५।३।२, ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति—गीता) प्रवृत्ति-निवृत्ति द्वारा पाप-पुण्य का भेद बतलाते रहने में कभी नहीं चूकता। डॉ० राधाकृष्णन् ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

"The sinner in the lowest depths of degradation has the light in him which he cannot put-out, though he may try to stifle it and turn away from it. God holds us, fallen though we may be, by the roots of our being and is ready to send his rays of light into our dark and rebellious hearts."

—Hindu View of Life.

अर्थात् बड़े-से-बड़े पापी के मन में भी एक ज्योति दिखाई देती है जिसकी उपेक्षा करने का यत्न वह भले ही करे, किन्तु उसे वह बुझा नहीं सकता। हम कितने ही पतित क्यों न हों, परमेश्वर हमें सँभालता है और हमारे अँधेरे तथा विद्रोही मन में अपने प्रकाश की किरणें डाले बिना नहीं रहता।

परमेश्वर पाप-पुण्य की पहचान बतलाकर छोड़ देता है, वैसा करने-न-करने के लिए विवश नहीं करता, क्योंकि—"The world consists of choosing individuals who may be influenced but not controlled." (Radhakrishnan : Gita—Introduction) परमेश्वर कहता-भर है। न वह स्वयं कुछ करता है और न किसी को कुछ करने को विवश करता है। इसलिए वह किसी के पाप-पुण्य के लिए उत्तरदायी नहीं होता। फल उसी को भोगना पड़ता है जो करता है। न वह किसी के कहने-सुनने (सिफारिश) से किसी के पापों को क्षमा करता है और न ईसामसीह की तरह उन्हें अपने ऊपर लेता है—
 "नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।" (गीता ५।१५)।

फिर भी यह कैसी विडम्बना है कि लोग—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।

न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति मानवाः॥

लोग पुण्य का फल तो चाहते हैं, पर पुण्य नहीं करते। इसी प्रकार पाप का फल नहीं चाहते, परन्तु पाप करते हैं।

६-७. सत्यभाषण-मिथ्याभाषण

जैसा कुछ अपने आत्मा में हो, और असम्भवादि दोषों से रहित करके सदा वैसा ही बोलें, उसको 'सत्यभाषण' कहते हैं।

जोकि सत्यभाषण अर्थात् सत्य बोलने से विरुद्ध है, उसको 'मिथ्याभाषण' कहते हैं।

व्याख्या—यह एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है कि मनुष्य—'यन्मनसा ध्यायते तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति'—जैसा मन में सोचता है वैसा ही वाणी से बोलता है और जैसा वाणी से बोलता है, वैसा ही कर्म से करता है। इसलिए महात्मा और दुरात्मा की पहचान के लिए कहा गया है—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥

अर्थात् जो मन, वचन और कर्म में एक होते हैं, वे महात्मा होते हैं और जिनके मन में कुछ, वचन में कुछ और कर्म में कुछ होता है, वे दुरात्मा कहाते हैं।

ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद (४०।३) का भाष्य करते हुए लिखा है—“जो लोग आत्मा में और जानते, वाणी से और बोलते और करते कुछ और ही हैं, वे राक्षस, असुर व पिशाच हैं। इसके विपरीत जो आत्मा, मन, वाणी और कर्म में निष्कपट एक-सा आचरण करते हैं वे देव कहाते हैं।” एक अन्य मन्त्र (यजुः० ९।१२) की व्याख्या करते हुए ऋषि लिखते हैं—“तुम लोगों की राजनीति में स्थित अच्छी वाणी, सत्यस्वरूप हो (एषा वः सा सत्या संवागभूत्)। राजा, उसके नौकर और प्रजापुरुषों को उचित है कि अपनी प्रतिज्ञा और वाणी को कभी असत्य न होने दें। जितना कहें उतना ठीक-ठीक करें। जिनकी वाणी सब काल में सत्य होती है, वही पुरुष राज्याधिकार के योग्य होते हैं। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक उन राज्यपुरुषों का विश्वास नहीं होता है।”

किन्तु आज जब राजनेताओं को निर्वाचन के समय किये गये उनके वायदों की याद दिलाई जाती है तो हँसते हुए यह कहकर टाल देते हैं—‘वो वायदा ही क्या जो वफ़ा हो गया।’ इतना ही नहीं, उनके अनुसार तो—

नाअहल हैं वो अहले सयासत की नज़र में।

वादों से अपने जिनको मुकरना नहीं आता ॥

और जब उन्हें मर्यादापुरुषोत्तम राम (रामो द्विर्नाभिभाषते) का स्मरण कराते हुए अपनी बात पर कायम रहने और सदा एक-सी बात कहने के लिए कहा जाता है तो कहते हैं कि “राजनीति में कुछ भी स्थायी नहीं होता और केवल मूर्ख ही सदा एक-सी बात कहते हैं, (Nothing is irrevocable in politics and only fools are consistent.)। छल, कपट, बेईमानी को Tact, Policy, Strategy, Diplomacy जैसे नाम देकर प्रतिष्ठित किया जा रहा है।

महाभारत में बड़े कठोर शब्दों में कहा गया है—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।

किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्महारिणा ॥

जिसके आत्मा में कुछ हो, कहता कुछ और हो और करता कुछ और ही हो, वह कौन-सा पाप नहीं करता? अर्थात् ऐसे आत्महन्ता से बढ़कर पापी अन्य कोई नहीं।

वस्तुतस्तु ‘न हि सत्यात्यरो धर्मः नानृतात्पातकं परम्’। सत्य से बड़ा कोई धर्म नहीं और झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं। इसलिए बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है—

“यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति।

—बृहद् १।४।१४

जो धर्म है, वही सत्य है। इसीलिए सत्य कहने पर कहा जाता है कि यह धर्म कहता है और धर्म कहने पर कहा जाता है कि यह सत्य कहता है। सत्य और धर्म वास्तव में एक ही है।

सत्यं ब्रह्मेति सत्यं ह्येव ब्रह्म। —बृहद् ५।४।१

सत्य का ही अपर नाम ब्रह्म है।

तदेतत्त्रयक्षरं सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं, यमित्येकमक्षरं, प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतम्। —बृ० ५।५।१

‘सत्यम्’ शब्द स-त्-यम् इन तीन अक्षरों से बना है। इसमें ‘स’ जीव का वाचक है; ‘त्’ प्रकृति या ब्रह्माण्ड का और ‘यम्’ जीव तथा ब्रह्माण्ड दोनों का नियमन करनेवाले ब्रह्म का। इस प्रकार ‘सत्यम्’

ब्रह्म का ही नाम है। पुनः यह पूछे जाने पर कि 'वह ब्रह्म कहाँ है'? उपनिषत्कार का उत्तर है—'तत्सत्ये प्रतिष्ठितम्'—वह सत्य में प्रतिष्ठित है।

भगवान् मनु ने सत्य के विषय में इतना विशेष कहा है—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।

प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

—मनु० ४।१३८

अर्थात् सत्य बोले, प्रिय बोले, अप्रिय सत्य न बोले, परन्तु प्रिय बोलने में भी असत्य न बोले—यही शाश्वत धर्म है।

महाभारत में अपवाद रूप में असत्य बोलने की अनुमति दी है। शान्तिपर्व ३२६।१३ में बताया है—“सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्”—सच बोलना अच्छा है, परन्तु सत्य से भी अच्छा है हितकर बोलना। इसका अनुमोदन करते हुए वनपर्व (२०८।४) में कहा है—‘यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा’। जिसके कहने से किसी प्राणी का हित होता हो, वह सत्य ही है। एतदनुसार यदि सत्य कहने से रोगी के स्वास्थ्य के बिगड़ जाने का भय हो तो वैद्य का असत्य भाषण पाप नहीं माना जाएगा।

८-९. विश्वास-अविश्वास

जिसका मूल, अर्थ और फल निश्चय करके सत्य ही हो, उसका नाम 'विश्वास' है॥

जो विश्वास से उलटा है, जिसका तत्त्व अर्थ न हो, वह 'अविश्वास' कहाता है।

व्याख्या—परस्पर एक-दूसरे पर विश्वास के बिना समाज खड़ा नहीं रह सकता। 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे'—वेद के अनुसार 'सत्येनोत्तभिता भूमिः, सत्येनोत्तभिता द्यौः'। जिस सत्य (सत्यं ब्रह्म) के बिना न भूमि स्थिर रह सकती है, न द्युलोक, वही सत्य विश्वास का आधार है। विश्वास के बिना लोक-व्यवहार सम्भव नहीं। ग्राहक को यदि इस बात का विश्वास न हो कि दुकानदार पैसे लेकर माल दे देगा तो वह पहले पैसे नहीं देगा और दुकानदार को विश्वास न हो कि माल लेकर ग्राहक पैसे दे देगा तो वह पहले माल नहीं देगा। ऐसी अवस्था में सारा व्यापार-व्यवहार ठप्प हो जाएगा। इस विश्वास का मूलाधार क्या है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में 'वेदोक्तधर्म विषय' के

अन्तर्गत ऋषि लिखते हैं कि “सब मनुष्य सत्यव्यवहार कर अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हों, क्योंकि जो सत्य है वही विश्वास का मूल तथा सत्य का आचरण ही उसका फल और स्वरूप है, असत्य कभी नहीं।” सत्य में कोई गोपन नहीं होता, छल-कपट नहीं होता, किसी के प्रति दुर्भावना नहीं होती। इसी से परस्पर विश्वास उत्पन्न होता है। परस्पर सहयोग के बिना सामाजिक व्यवहार नहीं होता और परस्पर अविश्वास के रहते सहयोग नहीं हो सकता और मिथ्याचरण के होते विश्वास नहीं हो सकता। इसलिए वेदोक्त धर्म में सर्वकल्याणकारी सत्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

१०. परलोक

जिससे सत्यविद्या से परमेश्वर की प्राप्ति हो और उस प्राप्ति से जन्म वा पुनर्जन्म और मोक्ष में परमसुख प्राप्त होना है, उसको परलोक कहते हैं।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद् में लिखा है—“द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च, परा यया तदक्षरमधिगम्यते”। तदनुसार ऋषि ने स्वरचित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (वेदविषयविचारः) में लिखा है—“वेदेषु द्वे विद्ये वर्तते, अपरा परा चेति। तत्र यया पृथिवीतृणादारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते। यया चादृश्यादिविशेषणयुक्तं सर्वशक्तिमद् ब्रह्म विज्ञायते, सा पराऽर्थादपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टास्तीति वेद्यम्”। आर्यसमाज के पहले नियम में बताया है—“सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदिमूल परमेश्वर है”। और तीसरे नियम में कहा है—“वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है”। इस प्रकार यहाँ जिस सत्यविद्या से परमेश्वर की प्राप्ति का निर्देश किया है वह वेद की विद्या है। “तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति” (यजुर्वेद ३१।१८) वेद शब्द ‘विद् ज्ञाने’ धातु से निष्पन्न होता है। पाणिनि ने अपने धातुपाठ में विद् धातु के सत्ता, लाभ और विचारना (विद् सत्तायाम्, विद् लृ लाभे, विद् विचारणे) ये तीन अर्थ दिये हैं। इस प्रकार इन अर्थों में उक्त तीनों प्रत्यार्थ जोड़ने से वेद शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक हो जाता है। लाभ आनन्द का उत्पादक अथवा आनन्द का ही एक रूप है। ऐसा विचार करने पर सत्ता, ज्ञान और आनन्द (सच्चिदानन्द)—ये तीन जो ब्रह्म के स्वरूप-लक्षण श्रुतियों में मिलते हैं, वे तीनों वेद शब्दार्थ में आ जाते हैं। इसलिए वेद का एक पर्याय ‘ब्रह्म’ है।

उस परमेश्वर की प्राप्ति एक जन्म में नहीं हो सकती, अपितु 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् (गीता) इसलिए ऋषि ने 'इस जन्म या पुनर्जन्म' में कहा है। जिस स्थिति को ऋषि ने 'परलोक' का नाम दिया है उसका परिचय वेद ने इन शब्दों में दिया है—

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।

कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥

—ऋग्वेद ९।११३।११

११. अपरलोक

जो परलोक से उल्टा है, जिसमें दुःखविशेष भोगना होता है, वह अपरलोक कहाता है।

व्याख्या—जो पर-लोक नहीं, वह अपरलोक है। जो अपरा विद्या से प्राप्त होता है वह अपरलोक कहाता है, जैसे पराविद्या से प्राप्त होनेवाला परलोक। अपरलोक की प्राप्ति से भौतिक सुख मिलता है जो क्षणिक होता है, जबकि परलोक से आनन्दलोक—ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है जो मुक्ति की अवधि तक बना रहता है।

१२. जन्म

जिसमें किसी शरीर के साथ संयुक्त होके जीव कर्म करने में समर्थ होता है, उसको 'जन्म' कहते हैं।

व्याख्या—आत्मा का शरीर से संयोग होना जन्म कहाता है। प्रलय-काल तथा मोक्ष प्राप्त होने पर नियत अवधि के अन्तराल को छोड़कर एक देह का परित्याग कर देहान्तर को ग्रहण करने का क्रम निरन्तर चलता रहता है। पूर्वजन्मों में किये पाप-पुण्यों का फल भोगने के स्वभाव से युक्त आत्मा पूर्व शरीर को छोड़कर वायु में गया हुआ, जल, वायु, प्राण आदि के माध्यम से पुरुष के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। तदनन्तर ईश्वर की प्रेरणा से स्त्री की योनि के द्वारा उसके गर्भाशय में स्थित हो, दश मास तक पूर्ण विकास पाने के अनन्तर बाहर आता है। इसी को जीवात्मा का जन्म लेना कहते हैं। इस विषय में वेद में लिखा है—

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि ।

निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ॥

—ऋ० ५।७८।९

अर्थात् दश मास तक माता के भीतर रहकर जीवन को धारण

किये हुए जीव जीवित माता के गर्भ से सुखपूर्वक निकले।

आत्मा को नित्य मानने पर ही पुनर्जन्म अर्थात् शरीरों को छोड़ने और ग्रहण करने का अनुक्रम सम्भव है। यदि आत्मा अनित्य होता तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता। फिर उसके बार-बार जन्म लेने का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु जीवात्मा 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'। हाँ, जिस शरीर को जीवात्मा एक बार छोड़ देता है, उसे फिर प्राप्त नहीं हो सकता।

स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में इतना विशेष लिखा है—“सो पूर्व, पर और मध्यभेद से तीनों प्रकार का मानता हूँ”। वर्तमान जन्म को 'मध्य' कहा गया है, इससे पहले को 'पूर्व' और इससे अनन्तर होनेवाले को 'पर' कहा गया है।

१३. मरण

जिस शरीर को प्राप्त होकर जीव क्रिया करता है, उस शरीर और जीव का किसी काल में जो वियोग हो जाना है, उसको 'मरण' कहते हैं।

व्याख्या—शरीर से जीवात्मा का निकल जाना मृत्यु है, 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्'—शरीर मरणधर्मा है। चालू शरीर में प्रारब्ध कर्मों का फल-भोग समाप्त होने पर पञ्चभौतिक शरीर का पतन हो जाता है। शरीर का प्रत्येक अंग अपने कारण में लय हो जाता है। इसलिए किसी के मरने को 'पञ्चत्वं गतः' कहा जाता है, परन्तु आत्मा बना रहता है, क्योंकि अभौतिक होने से वह अनुच्छिन्ति धर्मा है। न उसकी उत्पत्ति होती है, न विनाश—'न जायते म्रियते वा कदाचित्'।

१४-१५. नरक-स्वर्ग

जो विशेष सुख और सुख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, वह 'स्वर्ग' कहलाता है।

जो विशेष दुःख और दुःख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, उसको 'नरक' कहते हैं।

'स्वः' सुख का नाम है—'स्वः सुखं गच्छति यस्मिन् स स्वर्गः', 'अतो विपरीतो दुःखभोगो यस्मिन् स नरक इति'। सांसारिक सुख को 'सामान्य' स्वर्ग' कहते हैं—'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वा नन्दी भवति' (तैत्तिरीय उप० २।६)। सामान्य स्वर्ग को 'अभ्युदय' और

विशेष स्वर्ग को 'निःश्रेयस' कहा जा सकता है।

पौराणिक तथा सेमेटिक (इस्लाम, ईसाइयत आदि) मतों में स्वर्ग (बहिश्त) और नरक (दोज़ख) पृथिवी से दूर, स्थानविशेषों की संज्ञा हैं जहाँ अप्सराओं, हूरो व गिलमः का वास है और शराब की नहरें बहती हैं। यह सब अज्ञानमूलक एवं कल्पना-प्रसूत तथा च्युतसंस्कृति है।

१६-१७. विद्या-अविद्या

जिससे ईश्वर से लेके पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है, उसका नाम 'विद्या' है।

जो विद्या से विपरीत है, भ्रम, अन्धकार और अज्ञान-रूप है, उसको 'अविद्या' कहते हैं।

व्याख्या—'वेत्ति यथावत् तत्त्वपदार्थस्वरूपं यया सा विद्या'—जिससे पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो उसे 'विद्या' कहते हैं। विद्या और ज्ञान पर्यायवाची हैं। गीता के अनुसार 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं ज्ञानम्' (१३।११) अर्थात् तत्त्वज्ञान के विषयों (प्रकृति, पुरुष व जीवात्मा) का साक्षात्कार ज्ञान कहाता है। प्रकृति से परमेश्वरपर्यन्त समस्त पदार्थों का ज्ञान विद्या के अन्तर्गत है। व्यवहारभानु में ऋषि ने लिखा है—(१) जिससे पदार्थों को यथावत् जानके न्याययुक्त कार्य किये जाएँ, वह 'विद्या' और जिससे किसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान न होकर अन्यायरूप कार्य किये जाएँ, वह 'अविद्या' कहाती है।

(२) जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार लेकर अपने और दूसरों के लिए सब सुखों को सिद्ध कर सके वह 'विद्या' और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उलटा जानकर अपना और पराया अनुपकार कर लेवे वह 'अविद्या' कहाती है।

'उपदेशमंजरी' के अनुसार यथाविहित ज्ञान ही विद्या है। प्रज्ञा (यथार्थज्ञान) के विरुद्ध अनेक भ्रम हैं, किन्तु विद्या में भ्रम नहीं होता।

मुण्डकोपनिषद् में विद्या के दो भेद किये हैं—“द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च”, तदनुसार इस विषय में ग्रन्थकार ने स्वरचित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (वेदविषयविचार) में लिखा है—“वेदेषु द्वे विद्ये वर्तन्ते, अपरा परा चेति। तत्र यया पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते। यया

चादृश्यादिविशेषणयुक्तं सर्वशक्तिमद् ब्रह्म विज्ञायते सा पराऽर्थादपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टास्तीति वेद्यम्”।

अर्थात् वेदों में दो विद्या हैं—एक अपरा, दूसरी परा। इनमें से अपरा वह है जिससे पृथिवी और तृण से लेके प्रकृतिपर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य करना सिद्ध होता है और दूसरी परा कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है (परा यया तदक्षरमधिगम्यते—मुण्डक०)। यह पराविद्या अपराविद्या से अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल पराविद्या है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में भी कहा है—‘विद्ययाऽमृतमश्नुते’ (मन्त्र १४) इसीलिए ऋषि ने अपराविद्या (सृष्टिविद्या) को पुष्पस्थानीय मानकर परा विद्या को फल स्थानीय कहा है।

अविद्या—‘अतस्मिंस्तद् बुद्धिरविद्या’—जो वस्तु जैसी है उसे वैसी न समझकर अन्यथा=तद्विपरीत मानना अविद्या है। अथवा जो वस्तु जैसी नहीं है वैसी दीखना अविद्या है। ऐसा दो कारणों से होता है—“इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या” (वैशेषिक ९।२।१०)—इन्द्रियों तथा संस्कार के दोष से अविद्या उत्पन्न होती है। आगे कहा है—‘तद् दुष्टं ज्ञानम्’ ९।२।११ तथा ‘अदुष्टं विद्या’ ९।२।१२—जो दुष्ट अथवा विपरीत ज्ञान है, उसको अविद्या कहते हैं, और जो अदुष्ट अर्थात् यथार्थ ज्ञान है, उसको विद्या कहते हैं।

इन्द्रियदोष हैं—बात, पित्त आदि शरीर-धातुओं के विकृत हो जाने से इन्द्रियों के द्वारा विषयों को यथार्थरूप में ग्रहण करने की क्षमता में कमी हो जाना—जैसे कामला रोग में सभी पदार्थों का पीला दिखाई देना इत्यादि। संस्कारदोष से मिथ्या ज्ञान तब होता है जब अनुभव भ्रान्त हुआ हो और इससे संस्कार भ्रान्त हो जाए—जैसे रजत-जैसी चमकती सीप को देखकर उसे रजत समझ लेना या मरुस्थल में बालू को जल मान लेना।

इसी प्रकार ‘अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्म-ख्यातिरविद्या’ (योग २।३)—विनाशी पदार्थों में नित्य बुद्धि, शरीर आदि अपवित्र पदार्थों में पवित्र बुद्धि, दुःखरूप विषय-भोगादि में सुख बुद्धि तथा देहेन्द्रियादि अचेतन पदार्थों में आत्मबुद्धि का नाम भी अविद्या है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार प्रकाश और अन्धकार के समान विद्या और अविद्या एक-दूसरे की विरोधी हैं, परन्तु यजुर्वेद के चालीसवें

अध्याय के ग्यारहवें मन्त्र में उन्हें एक-दूसरे का पूरक बतलाते हुए कहा है—

विद्या चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयसह।

अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायामृतमश्नुते ॥

अर्थात् जो विद्या और अविद्या दोनों को एक-साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से मोक्ष को प्राप्त करता है।

इस प्रकार यहाँ दोनों को उपयोगी बताया है और उनके मेल की स्तुति की गई है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाध्वरताः ॥

अर्थात् जो अविद्या की उपासना करते हैं वे अन्धकार में पड़ते हैं, परन्तु जो विद्या की उपासना करते हैं वे उससे भी गहन अन्धकार में पड़ते हैं।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अविद्या से विद्या कहीं अधिक निकृष्ट कोटि की वस्तु है। आपाततः देखने से यह तर्कसंगत नहीं जान पड़ता। 'विद्या' ज्ञान का पर्याय है, यह निर्विवाद है। अविद्या के दो अर्थ हो सकते हैं—एक पारिभाषिक और दूसरा यौगिक। दर्शनों में प्रायः पारिभाषिक अर्थ 'अज्ञान' या 'मिथ्याज्ञान' लिया जाता है। यजुर्वेद (ईशोपनिषद्) के प्रस्तुत मन्त्रों में अविद्या का यह पारिभाषिक अर्थ अभिप्रेत नहीं जान पड़ता। यह अर्थ अभीष्ट होता तो सब अनर्थों, क्लेशों की जड़ अविद्या (अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः, अविद्या-क्षेत्रमुत्तरेषाम्—योगसूत्र २।३, ४) को मृत्यु से पार करनेवाली अर्थात् मोक्ष प्रदान करनेवाली न कहा गया होता। मिथ्याज्ञान या विपर्यय को तो सांख्यदर्शन में बन्धन का हेतु (बन्धो विपर्ययात्) कहा गया है।

'अविद्या' का यौगिक अर्थ है—विद्या से भिन्न अर्थात् जो विद्या=यथार्थज्ञान नहीं है। तो फिर वह क्या है? अविद्या का अर्थ विद्या का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि न तो अभाव की उपासना हो सकती है और न अभाव की उपासना से मृत्यु को तरनेवाली बात संगत हो सकती है। अविद्या शब्द का वही अर्थ करना होगा जो शब्दार्थ की दृष्टि से भी ठीक हो और प्रकरण से भी संगत हो। ऊपर मुण्डक में दो प्रकार की विद्या का निर्देश किया गया है—परा और अपरा। पराविद्या

वह है जिससे अक्षरब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में विवेच्य मन्त्रों में विद्या से पराविद्या और 'अविद्या' से अपराविद्या अभिप्रेत है। अपने यजुर्भाष्य में ऋषि ने लिखा है—“अविद्येति ज्ञानादिगुणरहितं वस्तु कार्यकारणात्मकं जडं परमेश्वराद् भिन्नम्”, अर्थात् परमेश्वर से भिन्न भौतिक जगत् की उपासना करना अविद्या है। प्राकृत या भौतिक जगत् के जिस ज्ञान को आजकल विज्ञान (Science) कहते हैं उसी को यहाँ उपनिषद् में अपराविद्या के नाम से अभिहित किया है। अभ्युदय व निःश्रेयस, प्रेय व श्रेय, भौतिक व आध्यात्मिक आदि शब्द क्रमशः अविद्या और विद्या के पर्याय हैं। अविद्या और विद्या=प्रकृतिज्ञान तथा आत्मज्ञान दोनों का अपना-अपना स्थान है। दोनों के समन्वय में ही पूर्ण सुख है। प्रकृतिविद्या शरीर की अपेक्षा से भौतिक आवश्यकताओं की पूर्त्यर्थ अभीष्ट पदार्थों की कमी नहीं होने देती तो आत्मविद्या उनके अनुचित एवं मात्रातीत प्रयोग पर अंकुश रखती है। प्रकृतिविद्या जीवन की गाड़ी में इंजन है तो आत्मविद्या उसमें ब्रेक का काम करती है। प्रकृतिविद्या के बिना जीवन की गाड़ी चल नहीं सकती तो आत्मविद्या की ब्रेक उसे टूटकर गिरने से बचाती है।

सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में ऋषि ने इन्हीं मन्त्रों की व्याख्या में लिखा है—“इस मन्त्र में कहा है कि बिना शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना के मृत्यु-दुःख से पार कोई नहीं हो सकता, अर्थात् पवित्र कर्म, पवित्रोपासना, पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति होती है।” इस प्रकार यहाँ अविद्या का अर्थ 'कर्म' किया है। कर्म और विद्या (ज्ञान) का शास्त्रों में सहभाव कहा है। बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।२) में कहा है—“तं विद्याकर्मणी समन्वारभते पूर्वप्रज्ञा च”। इस कारण यहाँ अविद्या शब्द से विद्या से भिन्न तत्सदृश 'कर्म' का ग्रहण सर्वथा संगत है।

१८. सत्पुरुष

जो सत्यप्रिय, धर्मात्मा, विद्वान्, सबके हितकारी और महाशय होते हैं, वे सत्पुरुष कहाते हैं।

व्याख्या—

यथामतिस्तथोक्तिर्यथोक्तिस्तथा मतिः सत्पुरुषस्य
लक्षणमतो विपरीतमसत्पुरुषस्येति ॥

सत्पुरुष का यही लक्षण 'व्यवहारभानु' में मिलता है—“जैसा

आत्मा का ज्ञान वैसा वचन, और जैसा वचन वैसा कर्म करना और जिसका आत्मा से मन, मन से वचन, और वचन से विरुद्ध कर्म करना है, वही असत्पुरुष का लक्षण है।”

‘सत्यार्थप्रकाश’ के तृतीय समुल्लास के आरम्भ में ग्रन्थकार ने सत्पुरुष का परिचय निम्नलिखित श्लोक के द्वारा दिया है—

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः,

सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।

संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये,

धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः॥

अलब्ध मूल होने से यह श्लोक ग्रन्थकार का स्वरचित प्रतीत होता है।

अर्थ—जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता, सुन्दर शील स्वभावयुक्त, सत्यभाषणादि नियम-पालनयुक्त और जो अभिमान, अपवित्रता से रहित, अन्य की मलिनता के नाशक, सत्योपदेश, विद्यादान से संसारी जनों के दुःखों को दूर करने से सुभूषित और वेदविहित कर्मों से पराया उपकार करने में तत्पर रहते हैं, वे नर-नारी धन्य हैं। वस्तुतः—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

भर्तृहरि ने सत्पुरुषों का लक्षण करते हुए लिखा है—‘सत्पुरुषाः स्वार्थं परित्यज्य परार्थघटकाः’ होते हैं। अन्यत्र लिखा है—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ, प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः।

अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते॥

११. सत्सङ्ग-कुसङ्ग

जिसे करके झूठ से छूटके सत्य की प्राप्ति होती है उसको ‘सत्सङ्ग’ और जिसे करके जीव पापों में फँसे, उसको ‘कुसङ्ग’ कहते हैं।

व्याख्या—मनुष्य एक समाजिक प्राणी है। इसलिए वह अकेला नहीं रहना चाहता। ‘संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति’—वह अपने गुण-दोष दूसरों में संक्रमित करता है और दूसरों के गुण-दोष उसमें संक्रमित

होते हैं। सत्संगति में रहनेवाला सत्पुरुष बन जाता है और कुसंगति में पड़ा हुआ दुष्ट बन जाता है। मण्डनमिश्र से शास्त्रार्थ करने के लिए शंकराचार्य उनके गाँव तो पहुँच गये, पर घर में कैसे पहुँचें? गाँव के लोगों से पूछा तो उन्होंने बताया—किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं, जिस घर के बाहर तोता-मैना बैठे शास्त्र-चर्चा में लीन हों उसी को मण्डनमिश्र का घर जान लेना।

मनुष्य एक समाजिक प्राणी है, इसलिए वह बहुतों के बीच में रहता है। अपने गुण-दोष दूसरों में संक्रमित करता है, वैसे ही दूसरों के गुण-दोष उसमें संक्रमित होते हैं। सत्सङ्गति में रहनेवाला सत्पुरुष बनता है, वैसे ही कुसङ्ग में रहनेवाला दुर्गुणों से युक्त होकर दुष्ट बन जाता है। सत्सङ्गति के सम्बन्ध में भर्तृहरि का यह श्लोक बहुत ही प्रसिद्ध है—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यम्,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।

चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
सत्सङ्गति कथय किन्न करोति पुंसाम्॥

काचः कंचनसंसर्गात् धत्ते मरकतद्युतिम्।

तथा सत्सन्निधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम्॥

महामति चाणक्य ने लिखा है—

चन्दनं शीतलं लोके चन्दनादपि चन्द्रमाः।

चन्द्रचन्दनयोर्मध्ये शीतला साधुसंगतिः॥

इसलिए बड़ों का कहना है—

त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधु-समागमम्।

और वेद में प्रार्थना की गई है—‘देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम्’ तथा ‘पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि’। यही ‘स्वस्तिपन्थामनुचरेम’ कल्याण-मार्ग पर चलना है।

२०. तीर्थ

जितने विद्याभ्यास, सुविचार, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्य का संग, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियतादि उत्तम कर्म हैं, वे सब ‘तीर्थ’ कहाते हैं, क्योंकि इनके द्वारा जीव दुःखसागर से तर सकते हैं।

व्याख्या—इस विषय में ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में लिखा है—“वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, धार्मिक विद्वानों का संग, परोपकार, धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास, निर्वैर, निष्कपट, सत्यभाषण, सत्य का मानना, सत्य करना, ब्रह्मचर्य, आचार्य, अतिथि, माता-पिता की सेवा, परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, शान्ति, जितेन्द्रियता, सुशीलता, धर्मयुक्त पुरुषार्थ, ज्ञान-विज्ञान आदि शुभ गुण-कर्म दुःखों से तारनेवाले होने से ‘तीर्थ’ हैं।

और जो जल-स्थलमय हैं, वे तीर्थ कभी नहीं हो सकते, क्योंकि ‘जना ग्रैस्तरन्ति तानि तीर्थानि’ मनुष्य जिस करके दुःखों से तरे, उनका नाम ‘तीर्थ’ है। जल-स्थल तरानेवाले नहीं, किन्तु डुबाकर मारनेवाले हैं। प्रत्युत नौका आदि का नाम तीर्थ हो सकता है, क्योंकि उनसे भी समुद्र आदि को तरते हैं।

‘समानतीर्थे वासी’ ॥ १ ॥ —पाणिनि अष्टाध्यायी ४।४।१०६

नमस्तीर्थ्याय च ॥ २ ॥ —यजुर्वेद १६।४२

जो ब्रह्मचारी एक आचार्य से और एक शास्त्र को साथ-साथ पढ़ते हैं, वे सब सतीर्थ्य अर्थात् समान तीर्थसेवी होते हैं ॥१॥

जो वेदादि शास्त्र और सत्यभाषणादि धर्मलक्षणों में साधु हो उसको अत्रादि पदार्थ देना और उससे शिक्षा लेनी इत्यादि ‘तीर्थ’ कहाते हैं।

‘स्वमन्तव्यामन्तव्य’ में इस विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए ऋषि कहते हैं—

“तीर्थ—जिससे दुःसागर से पार उतरें कि जो सत्यभाषण, विद्या सत्संग, यमादि योगाभ्यास, पुरुषार्थ, विद्या, दानादि शुभ कर्म हैं, उसी को ‘तीर्थ’ समझता हूँ, इतर जल-स्थलादि को नहीं।”

इसी विषय का विवेचन करते हुए ऋषिवर ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ‘ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय’ के अन्तर्गत लिखा है—

“तीर्थ शब्द का अर्थ अन्यथा जानके, अज्ञानियों ने जगत् को लूटने और अपने प्रयोजन की सिद्धि करने के लिए मिथ्याचार कर रक्खा है, सो ठीक नहीं, क्योंकि जो-जो सत्य तीर्थ हैं, वे सब नीचे लिखे जाते हैं—

देखो, ‘तीर्थ’ नाम उनका है जिनसे जीव दुःखरूप समुद्र को तरके सुख को प्राप्त हों।

अर्थात् जो-जो वेदशास्त्र प्रतिपादित तीर्थ हैं तथा जिनका आयों

ने अनुष्ठान किया है, जोकि जीवों को दुःखों से छुड़ाके उनके सुखों के साधन हैं, उन्हीं को तीर्थ कहते हैं।

वेदोक्त तीर्थ ये हैं—अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त किसी यज्ञ की समाप्ति करके जो स्नान किया जाता है, उसको 'तीर्थ' कहते हैं, क्योंकि उस कार्य से वायु और वृष्टि-जल की शुद्धि द्वारा मनुष्यों को सुख प्राप्त होता है। इस कारण उन कर्मों को करनेवाले मनुष्य को भी सुख प्राप्त होता है।"

एतद्विषयक शास्त्रीय विवेचन के लिए हमारे 'भूमिकाभास्कर' भाग २ को देखें। इस प्रकरण के अन्तर्गत मनुस्मृति का निम्न श्लोक द्रष्टव्य है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।

विद्यातयोभ्यां भूतात्मा बुद्धिज्ञानेन शुध्यति ॥ —५।१०८

जल से बाहर के अंग, सत्याचार से मन, विद्या और धर्मानुष्ठान से जीवात्मा और ज्ञान से बुद्धि पवित्र होती है।

शारीरिक स्वच्छता के लिए स्नान करना आवश्यक है। इससे शरीर के भीतर का मल बाहर निकलता है, रोगाणु दूर होकर आरोग्य की प्राप्ति होती है और शरीर में स्फूर्ति आती है। स्नान के लिए नदी में प्रहवमान जल सर्वोत्तम होता है। इसीलिए भारतीय जीवन-पद्धति में नदी-स्नान को महत्त्व दिया गया है। किन्तु 'अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति' इस स्मृति-वचन के अनुसार स्नान का लाभ शरीर तक ही सीमित रहता है। स्नान से मोक्षलाभ की अपेक्षा करना मूर्खता है। हिमालय से निकलनेवाली गंगा के जल में खनिज पदार्थों के सम्पर्क के कारण उसमें अनेक गुणों के आ जाने से उसकी उपयोगिता निर्विवाद है, किन्तु उसपर दिव्यता आरोपित करके उसमें सामूहिक स्नान करना घृणित होने के साथ-साथ संक्रामक रोगों को आमन्त्रित करना है।

नदियों की उपयोगिता और उनके आस-पास के क्षेत्र की पवित्रता, प्राकृतिक सौन्दर्य तथा शान्त वातावरण के कारण उनके तट पर ऋषि-मुनियों के आश्रम तथा गुरुकुल बनाए जाते थे। वेद के अनुसार "उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रोऽअजायत"। प्रकृति की गोद में बसे उन आश्रमों में निवास करनेवाले ऋषि-मुनियों तथा सन्त-महात्माओं की प्रेरणा लेकर लोगों को अपने जीवनो को उन्नत करने और भवसागर से पार होने में सहायता मिलती थी, इसीलिए उन्हें तीर्थ या तीर्थ-स्थान कहा जाता था।

२१. स्तुति

जो ईश्वर वा किसी दूसरे पदार्थ के गुण, ज्ञान-कथन-श्रवण और सत्यभाषण करना है, वह 'स्तुति' कहाती है।

व्याख्या—शास्त्र में 'स्तुति' का अर्थ लोक में प्रचलित अर्थ (प्रशंसा, सराहना, गुणगान आदि) से भिन्न है। वस्तुतः 'दोषेषु गुणारोपण-मसूया'—दोषों में गुणों को आरोपित करना 'असूया' है। इसी प्रकार 'गुणेषु दोषारोपणमप्यसूया' गुणों में दोषों को आरोपित करना भी 'असूया' है। तब 'स्तुति' क्या है? 'गुणेषु गुणारोपणं दोषेषु च दोषारोपणं स्तुतिः'—गुणों में गुणों का और दोषों में दोषों का आरोपण 'स्तुति' है, अर्थात् जो पदार्थ जैसा हो उसे वैसा ही कहना स्तुति है। 'परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, इसलिए वह सब कुछ कर सकता है—जो चाहे कर सकता है' ऐसा कहना ईश्वर की स्तुति करना नहीं है। अपितु 'परमेश्वर अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल अपने सब काम बिना किसी की सहायता के कर सकता है' कहना ही उसकी स्तुति करना है। इसी रूप में परमेश्वर के गुणों का चिन्तन-कीर्तन व स्तवन करना उसकी स्तुति करना है। सगुण-निर्गुण भेद से स्तुति के दो भेद हैं, जो गुण परमेश्वर में हैं, उनसे युक्त मानकर उनकी स्तुति करना 'सगुणस्तुति' है और जो गुण उसमें नहीं हैं उनसे पृथक् मानकर उसकी स्तुति करना 'निर्गुणस्तुति' है। जैसे-परमात्मा को सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, दयालु, न्यायकारी, आदि कहना 'सगुणस्तुति' और अकाम, निष्पक्ष, अथवा शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धहीन कहना 'निर्गुणस्तुति' है।

२२. स्तुति का फल

जो गुण-ज्ञान आदि के करने से गुणवाले पदार्थों में प्रीति होती है, वह 'स्तुति का फल' कहाता है।

व्याख्या—किसी व्यक्ति या पदार्थ के गुणों को जानकर उसका सान्निध्य प्राप्त करने की इच्छा उभरती है। ईश्वर की स्तुति करने से उसमें प्रीति होकर स्वयं भी वैसा बनने की प्रेरणा मिलती है। अर्थ की भावना करते हुए परमेश्वर को बार-बार दयालु, न्यायकारी आदि कहते रहने से मनुष्य को स्वयं दयालु-न्यायकारी बनने की प्रेरणा मिलती है—'रसरी आवत जात ते सिल पर पड़त निसान'। इसलिए स्तुति का पूर्ण लाभ तभी मिलता है जब स्तुति करनेवाला परमेश्वर के गुणों को अपनाने-यथासम्भव अपने भीतर धारण करने का यत्न करता है।

परन्तु स्तुति करने से किसी के पाप क्षमा नहीं होते। 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' अपने इस नियम को परमेश्वर अपने भक्तों के लिए शिथिल नहीं करता। खुशामदियों से घिरे शासकों-प्रशासकों की तरह परमेश्वर अपनी स्तुति करनेवालों के पाप क्षमा करने लगे तो उसकी न्याय-व्यवस्था चौपट हो जाए।

२३. निन्दा

जो मिथ्याज्ञान, मिथ्याभाषण, झूठ में आग्रहादि क्रिया है, जिससे कि गुण छोड़कर उसके स्थान में अवगुण लगाना होता है, वह निन्दा कहाती है।

व्याख्या—जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही कहना यदि स्तुति है तो इसके विपरीत कहना, अर्थात् जो पदार्थ या व्यक्ति जैसा है उसे वैसा न कहना अथवा जो जैसा नहीं है उसे वैसा कहना 'निन्दा' है।

'शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि'—स्तुति का आदर्श है और इसके विपरीत कथन करना निन्दा है।

२४. प्रार्थना

अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिए परमेश्वर वा किसी सामर्थ्यवाले मनुष्य से सहाय लेने को 'प्रार्थना' कहते हैं।

व्याख्या—सत्यार्थप्रकाश के अन्त में उल्लिखित 'स्वमन्तव्या-मन्तव्यप्रकाश' के अनुसार 'अपने सामर्थ्य के उपरान्त ईश्वर के सम्बन्ध से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं, उनके लिए ईश्वर से 'याचना' करना 'प्रार्थना' है।'

साधारणतया 'प्रार्थना' और 'याचना' एकार्थवाची शब्द माने जाते हैं, परन्तु ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में 'अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पण-विषयः' में दोनों का एक-साथ प्रयोग होने से वहाँ पुनरुक्ति दोष की प्रतीति होती है, किन्तु महर्षि दयानन्द-जैसे आप्तपुरुष के कथन में निष्प्रयोजन पुनरुक्ति नहीं हो सकती। वस्तुतः 'प्रार्थना' और 'याचना' में अन्तर है। यह भेद अत्यन्त सूक्ष्म एवं दुरूह है। संस्कृतसाहित्य में उपलब्ध कतिपय स्थलों में 'याचना' शब्द के प्रयोग से ऐसा लगता है कि 'प्रार्थना' की अपेक्षा 'याचना' में दैन्य अथवा अनुनय-विनय की भावना अधिक प्रबल होती है। 'तृणादपि लघुस्तूलं तूलादपि च याचकः'—इस सुभाषित में याचना में अन्तर्हित भावना का भाव स्पष्ट

उजागर होता है। शिव का धनुष तोड़ने के लिए राम को प्रताड़ित करते हुए परशुराम कहते हैं—“बध्यतामभययाचनाञ्जलिः” (रघु० ११। ७८)—हाथ जोड़कर अभय की भिक्षा माँगो। ऐसा ही प्रयोग एक स्थान पर भट्टिकाव्य (१४। १०५) में हुआ है—“संग्रामाद् बभ्रशुः केचिद् ययाचुश्चापरेऽपरेऽभयम्”। जब रघु अपने पुत्र अज को राज्य का भार सौंपकर जाने लगे तब अज की पिता को वनगमन से विरत करने की स्थिति का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है—“पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः” (रघु० ८। १२)—अज ने पिता के पैरों में गिरकर याचना की कि मुझे छोड़कर मत जाइए। यहाँ अनुनय-विनय के अर्थों में याचना शब्द का प्रयोग हुआ है। मेघदूत पूर्वखण्ड में कहा है—“याच्ञामोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा”, अर्थात् गुणी के आगे हाथ पसारकर खाली हाथ लौट आना अच्छा है, पर नीच से सफलेच्छा होना भी अच्छा नहीं। अमरकोश में याच्ञा को ‘भिक्षा’ का पर्याय माना है। परमेश्वर के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि जब प्रार्थना में विनय का भाव अधिक हो तो वह ‘याचना’ कहाती है। ब्रह्माण्ड की विशालता से अभिभूत होकर जब कोई उसके स्रष्टा परमेश्वर की महानता के सामने अपनी तुच्छता को अनुभव करता है तो व्याकुल होकर कह उठता है—

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमाशुचे।

मळा सुक्षत्र मृळय ॥ —ऋग्वे० ७। १८९। ३

हे सर्वशक्तिमान्! दीनता के कारण मैं अपने कर्तव्य से विचलित हो गया हूँ। इस कारण मैं दुखी हूँ। मुझपर दया कीजिए, दया कीजिए।

यह याचना की भाषा है। किन्हीं के मत में अभ्युदय-सिद्धि अर्थात् ऐहिक जीवन की सुख-सुविधा के उपकरणों—अन्न, वस्त्र, धनादि, की माँग करने को ‘याचना’ तथा निःश्रेयस की सिद्धि के लिए भावनात्मक तत्त्वों—ज्ञान, ध्यान, पवित्रता आदि की माँग करने को ‘प्रार्थना’ कहा जाता है।

ग्रन्थकार के अनुसार जिस-जिस गुण से युक्त परमेश्वर को मान तथा अपने में धारण करने की प्रार्थना की जाती है, वह विधिमुख होने से ‘सगुण प्रार्थना’ कहाती है। इसी प्रकार जिस-जिस दोष तथा दुर्गुण से ईश्वर को पृथक् मानकर अपने को भी उनसे दूर रखने की प्रार्थना की जाती है, वह निषेधमुख होने से ‘निर्गुण प्रार्थना’ कहाती है। दूसरे शब्दों में शुभ गुणों को ग्रहण करने की प्रार्थना ‘सगुण’ और दोषों

से छुड़ाने के लिए ईश्वर की सहायता चाहना 'निर्गुण' प्रार्थना कहाती है।

जो जिस बात की प्रार्थना करे उसे उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न भी करना चाहिए। पानी तैरने में उसी की सहायता करता है जो स्वयं हाथ-पैर मांस्ता है, निष्क्रिय को डुबो देता है। जिस प्रकार लोक में पुरुषार्थ करनेवाले की ही दूसरे लोग सहायता करते हैं, वैसे ही परमेश्वर भी पुरुषार्थी मनुष्य की प्रार्थना स्वीकार कर उसकी सहायता करता है—

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।

किन्तु परमेश्वर की सहायता शुभ कर्मों में ही मिलती है। परमेश्वर सबकी भलाई चाहता है, इसलिए किसी दुष्कर्म में सफल होने की इच्छा से की गई प्रार्थना में ईश्वर की सहायता मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता।

२५. प्रार्थना का फल

अभिमान का नाश, आत्मा में आर्द्रता, गुण-ग्रहण में पुरुषार्थ और अत्यन्त प्रीति का होना 'प्रार्थना का फल' है।

व्याख्या—प्रार्थना से निरभिमानता आती है और कठिन-से-कठिन कार्यों में परमेश्वर से उत्साह और सहायता मिलती है। माँगा उससे जाता है जिसके पास कोई वस्तु होती है और माँगता वह है जिसके पास उसका अभाव होता है। उस स्थिति में माँगनेवाले में हीनभावना का उदय होता है, परिणामतः उसका अहंकार नष्ट होता है। किसी के आगे हाथ पसारते ही आँखें नीची हो जाती हैं। सब-कुछ प्राप्त कर लेने के बाद भी जब मनुष्य अहोरात्र के प्रारम्भ में अर्थात् सायं-प्रातः 'हिरण्यगर्भ' के सामने नत मस्तक होकर 'धियो यो नः प्रचोदयात्', 'स नो वसून्वा भर', 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्', 'बलमसि बलं मयि धेहि'—कभी बुद्धि की, कभी धन की, और कभी बल की, भीख माँगता है तो अहंकार कहाँ ठहर सकता है? इसके साथ ही जब उसे विश्वास हो जाता है कि आवश्यकता पड़ने पर उसे कहीं से सहायता मिल सकती है, तो वह निश्चिन्त होकर आगे बढ़ता जाता है। गिरने लगेगा तो पुकार करने पर कोई उसे थाम लेगा, यह विचार ही मनुष्य को बड़े-से-बड़े काम में हाथ डालने के लिए तत्पर कर देता है। "यस्ते ववक्षि तत्" (ऋ० ८।४५।६)—जो कोई प्रार्थी तुझसे कुछ चाहता

है, तू उसे उपलब्ध करा देता है, इत्यादि वचन इस विश्वास को पुष्ट करते हैं। इस प्रकार प्रार्थना से अभिमान का नाश होता है, आत्मा में आर्द्रता आती है और गुण-ग्रहण करने का सामर्थ्य बढ़ता है।

२६. उपासना

जिससे ईश्वर ही के आनन्दस्वरूप में अपने आत्मा को मग्न करना होता है, उसको 'उपासना' कहते हैं।

व्याख्या—इस शब्द का भी प्रयोग वेदों में हुआ है, परन्तु बहुत कम। “य आत्मदा बलदा०”—ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना के अन्तर्गत इस प्रसिद्ध मन्त्र (यजुर्वेद २५।१३) में ‘उपासते’ शब्द प्रयुक्त है जिसका अभिप्राय ‘उपासना’ पद के अभिप्राय से मिलता है। ऋग्वेद तथा सामवेद में भी ‘उपासते’ शब्द इसी उपासना के अर्थ के साथ समता रखता प्रतीत होता है, यथा—‘इन्द्रं जातमुपासते’—साम० पू० २।९।१। तथा ऋग्वेद १०।१५३।१। अथर्ववेद में भी ‘उपासातै’ शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका उपासना शब्द से अतिशय साम्य है, यथा—‘यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम्’ (१०।८।२२)।

परन्तु वेदों में ‘उपासना’ के अभिप्राय के साथ सर्वाधिक समता रखनेवाले ‘उपस्थाय’ शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। यजुर्वेद के ‘उपस्थाय.....अभि संविवेश’ (३२।११) का अर्थ यह है कि ब्रह्मज्ञानी व्यक्ति ब्रह्म का उपस्थान करके अपने आत्मस्वरूप द्वारा ब्रह्मात्मा में सम्पूर्ण रूप से प्रवेश पा जाता है। ‘अभि संविवेश’ पद अत्यन्त ‘समीप स्थिति’ का उत्कर्ष प्रतीत होता है—मानो ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म की गोद में ही छिपा है। ‘उपसद्’, ‘आसद्’, ‘निसद्’ आदि शब्दों को लेकर भी वेद में ‘उपासना’ की भावना की खोज करना आवश्यक है।

उपासना का सीधा अर्थ है—समीप स्थिति (उप=समीप, आसना=आस उपवेशने), अर्थात् उपासना-काल में उपासक ब्रह्म को अपने समीप और अपने को ब्रह्म के समीप स्थित हुआ जाने। ऐसी स्थिति हो जाने पर उपासक पर बहुत कुछ उपास्य के गुण-कर्म-स्वभाव का प्रभाव पड़ जाता है। उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है, और परमेश्वर के सान्निध्य से उसके आत्मा का बल इतना बढ़ जाता है कि वह पर्वत के समान दुःख आने पर भी विचलित नहीं होता।

परमात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है, जबकि जीव केवल सच्चित् है । सच्चिदानन्द की उपासना=सामीप्य से उसे वैसे ही आनन्द की प्राप्ति हो जाती है, जैसे सर्दी से काँपते हुए मनुष्य को अग्निके पास पहुँचने से सुख मिलता है। “रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति” — वह (परमात्मा) आनन्दस्वरूप है, उस आनन्दस्वरूप को पाकर जीवात्मा भी आनन्दमय हो जाता है।

तो क्या जीवात्मा से परमात्मा दूर है? सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर तो सबके अन्दर विद्यमान है—“सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति” (गीता) । यजुर्वेद में बताया है कि वह “तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वास्यास्य बाह्यतः” (४०।५)—वह सबके भीतर भी विद्यमान है और बाहर भी है, क्योंकि वह सर्वव्यापक है। फिर कहा है—“तद्वरे तद्वन्तिके”—वह सबसे दूर भी है और निकट भी है। एक साथ दूर और पास कहने से परस्पर विरोध का आभास होता है, किन्तु यह देश-काल की दूरी नहीं है। यह अज्ञान की दूरी है जिसके कारण पास पड़ी वस्तु भी दूर हो जाती है। यही कारण है कि परमेश्वर को सर्वव्यापक एवं सर्वान्तर्यामी और अपने भीतर हृदयस्थ माननेवाले भी उसे अपने भीतर न पाकर दूरस्थ जंगलों और पहाड़ों में भटकते फिरते हैं और वहाँ पहुँचकर भी वे परमेश्वर की बजाय पण्डे-पुजारियों की भेंट-पूजा करके खाली हाथ लौट आते हैं। हरिद्वारवाले हरिद्वार में न पाकर काशी जाते हैं और काशीवाले काशी में न पाकर हरिद्वार में जाते हैं—इससे बड़ी विडम्बना और क्या होगी?

२७-२८. सगुण-निर्गुणोपासना

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग-वियोग, हल्का-भारी, अविद्या, जन्म-मरण और दुःख आदि गुणों से रहित परमात्मा को जानकर जो उपासना की जाती है, उसको ‘निर्गुणोपासना’ कहते हैं।

जिसको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, नित्य, आनन्द, सर्वव्यापक, एक, सनातन, सर्वकर्ता, सर्वाधार, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, मंगलमय, सर्वानन्दप्रद, सर्वपिता, सर्वजगत् का रचनेवाला, न्यायकारी, दयालु आदि सत्यगुणों से युक्त जानके जो ईश्वर की उपासना करनी है, सो ‘सगुणोपासना’ कहाती है।

व्याख्या—सर्वज्ञता आदि गुणों का स्मरण करते हुए परमेश्वर की

उपासना करना 'सगुण' और राग-द्वेष, शब्द, स्पर्श आदि गुणों से रहित मानकर सूक्ष्म आत्मा के भीतर-बाहर व्याप्त परमेश्वर में दृढ़ चित्त हो स्थिर हो जाना 'निर्गुणोपासना' कहाती है। जैसे अग्नि की उपासना=उसके सामीप्य से सर्दी से ठिठुरते मनुष्य को सुख मिलता है, वैसे ही परमेश्वर की उपासना=उसके सामीप्य से त्रिविध दुःखों से सन्तप्त मनुष्य को परम-सुख की प्राप्ति होना उपासना का फल है।

२९. मुक्ति

जिससे बुरे कामों और जन्म-मरणादि दुःख-सागर से छूटकर सुखस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त करके सुख में ही रहना है, वह 'मुक्ति' कहाती है।

व्याख्या—वेदों में साक्षात् 'मुक्ति' या 'मोक्ष' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वहाँ प्रायः 'अमृत या अमृतत्व पद मोक्ष का वाचक है। दर्शन, उपनिषदादि में निःश्रेयस, अपवर्ग, मुक्ति, मोक्ष, हान, ब्रह्मलोक, अत्यन्त पुरुषार्थ, शाश्वत सुख, परागति, आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं (जैसे 'ज्ञानामुक्तिः'—सांख्य ३।२३, 'मोक्ष' सां० ५।७९) मुक्ति या मोक्ष पदों का प्रयोग भी मिलता है।

संसार में नित्य ही बन्धन के पश्चात् मुक्ति और मुक्ति के पश्चात् बन्धन देखा जाता है।

संसार के काम-काज से निवृत्त होकर प्रत्येक मनुष्य गहरी नींद में चला जाता है। उस अवस्था में बाह्यार्थों से असंयुक्त होने के कारण उसके दुःखों का अभाव (तिरोभाव) हो जाता है। इसी आधार पर सुषुप्ति अवस्था को मोक्षावस्था के सदृश माना जाता है—'समाधि-सुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता' (सांख्य ५।७९)। प्रातः होते ही पुनः सांसारिक व्यवहाररूप बन्धन में पड़ जाता है। इस प्रकार बन्धन के पश्चात् मुक्ति और मुक्ति के पश्चात् बन्धन प्रत्यक्ष देखने में आते हैं। दुःख का स्वरूप क्या है, इसका निरूपण करते हुए न्यायदर्शन में बताया है—'बाधनालक्षणं दुःखम्' (१।२।२२)—दुःख बाधनारूप है, अर्थात् स्वतन्त्रता का न होना दुःख कहाता है। जिस वस्तु की इच्छा होती है, उसकी प्राप्ति में व्याघात होने पर दुःख की अनुभूति होती है—'अनुकूलवेदनीयं सुखम्, प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्'। इस प्रकार प्रतिकूल अनुभूति का होना दुःख है। बाधना, पीड़ा, ताप, दुःख आदि शब्द इसी अर्थ को कहते हैं।

सांख्यदर्शन के अनुसार 'त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः

(१।१)। दुःख तीन प्रकार के होते हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक। इन तीनों प्रकार के दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति=अत्यन्ताभाव को अत्यन्तपुरुषार्थ=मुक्ति कहते हैं। न्यायदर्शन के शब्दों में “तदत्यन्त-विमोक्षोऽपवर्गः” (१।१।२२)—जिस अवस्था में दुःखों का अन्त हो जाता है, उसे अपवर्ग (मोक्ष) कहते हैं। उसकी प्रक्रिया का निरूपण करते हुए गौतम मुनि कहते हैं—“दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽपाये तदनन्तरापायादपवर्गः” (१।१।२)—दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, और मिथ्याज्ञान के उत्तरोत्तर नष्ट हो जाने से उसके अनन्तर के—अव्यवहित पूर्व के नाश हो जाने से अपवर्ग होता है।

यहाँ निर्दिष्ट पाँच पदार्थों में प्रत्येक का उत्तर अर्थात् अगला पदार्थ अपने पहले का कारण है। इस प्रकार दुःख का कारण जन्म, जन्म का कारण प्रवृत्ति, प्रवृत्ति का कारण दोष और दोषों का कारण मिथ्याज्ञान है। कारण का नाश हो जाने पर कार्यनाश स्वतः हो जाता है, अतः विपरीत क्रम से स्पष्ट हो जाता है कि मिथ्याज्ञान का नाश हो जाने से दोषों का नाश, दोषों के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश और जन्म के नाश से दुःखों का नाश हो जाता है। जब मिथ्याज्ञान के नाश से राग-द्वेषादि दोषों का नाश हो जाता है और दोषों के नाश से प्रवृत्ति का नाश हो जाता है तब प्रवृत्ति न रहने पर मनसा-वाचा-कर्मणा होनेवाले शुभाशुभ कार्य बन्द हो जाते हैं। कर्मों के न होने पर प्रारब्ध का बनना बन्द हो जाता है। प्रारब्ध कर्मों के अभाव में उनका फल भोगने के लिए होनेवाले जन्म की आवश्यकता नहीं रहती। आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव देहादि के सम्बन्ध से होता है, अतः जन्म न होने पर देहादि के अभाव में दुःखों का अत्यन्ताभाव हो जाता है। इसी क्रम में दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति का नाम अपवर्ग या मुक्ति है। सांख्यदर्शन में इसे सूत्रबद्ध करके कहा गया है—‘ज्ञानान्मुक्तिः’ (३।२३)। अज्ञान, अविद्या, विपर्यय, अविवेक, प्रकृतियोग आदि मिथ्याज्ञान के ही पर्याय हैं।

३०. मुक्ति के साधन

जो पूर्वोक्त ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना का करना, धर्म का आचरण और पुण्य का करना, सत्सङ्ग, विश्वास, तीर्थ-सेवन, सत्पुरुषों का सङ्ग और परोपकारादि सब अच्छे कामों का करना तथा सब दुष्ट कर्मों से अलग रहना है—ये सब मुक्ति के साधन कहाते हैं।

व्याख्या—इस विषय में ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—“कुछ साधन तो प्रथम लिख आये हैं, परन्तु विशेष उपाय ये हैं— जो मुक्ति चाहे वह जीवन्मुक्त अर्थात् जिन मिथ्याभाषणादि पाप-कर्मों का फल दुःख है, उनको छोड़ सुखरूप फल को देनेवाले सत्यभाषणादि धर्माचरण अवश्य करें। जो कोई दुःख को छोड़ना और सुख को प्राप्त करना चाहे वह अधर्म को छोड़ धर्म अवश्य करे, क्योंकि दुःख का पापाचरण और सुख का धर्माचरण मूल कारण है”।

विवेक—सत्याऽसत्य, धर्माऽधर्म, कर्तव्याऽकर्तव्य का निश्चय करना, पञ्चकोशों, तीन अवस्थाओं तथा तीन शरीरों को जानना।

पञ्च कोश ये हैं—अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश, तथा आनन्दमयकोश—

अन्नमयकोश—त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त का पृथिवीमय समुदाय अन्नमयकोश है।

प्राणमयकोश—जिसमें ‘प्राण’ अर्थात् जो भीतर से बाहर जाता, ‘अपान’ जो बाहर से भीतर जाता, ‘समान’ जो नाभिस्थ होकर समस्त शरीर में रस पहुँचाता, ‘उदान’ जिससे कण्ठस्थ अन्न-पान खींचा जाता और बलपराक्रम होता है, ‘व्यान’ जिससे जीव समस्त शरीर में चेष्टा आदि कर्म करता है।

मनोमयकोश—जिसमें मन के साथ अहंकार, वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ—पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।

विज्ञानमयकोश—जिसमें बुद्धि, चित्त तथा श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, नासिका और जिह्वा पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, जिनसे जीव ज्ञान आदि व्यवहार करता है।

आनन्दमयकोश—जिसमें प्रीति, प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिक आनन्द, आनन्द और आनन्द का आधार कारणरूप प्रकृति है।

ये पाँच कोश कहाते हैं। इन्हीं से जीव सब प्रकार के कर्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहार करता है।

अवस्था—तीन अवस्था हैं—एक ‘जाग्रत्’, दूसरी ‘स्वप्न’, तीसरी—‘सुषुप्ति’।

शरीर—तीन शरीर हैं—एक ‘स्थूल’ जो यह दीखता है, दूसरा—‘सूक्ष्म’—पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्मभूत, मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वों का समुदाय सूक्ष्मशरीर कहाता है, तीसरा—‘कारण’

जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है।

यथार्थज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं, अतः मोक्ष-पथ का अनुगमन करनेवाले के लिए पृथिवी से लेकर परमेश्वर-पर्यन्त प्रत्येक पदार्थ के गुण-कर्म-स्वभाव को जानना अनिवार्य है, क्योंकि पदार्थ के गुणों को जाने बिना उसका ठीक-ठीक उपयोग नहीं हो सकता। अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख और अनात्म देहादि को आत्मा, अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको वैसा न मानकर अन्यथा मानना अविद्या है, जो सब दुःखों का मूल है। विवेक होने पर इसका प्रतिकार होता है। यह विवेक पहले शास्त्रों के अध्ययन तथा आसपुरुषों के सदुपदेश से होता है, तदनन्तर युक्तिपूर्वक मनन द्वारा पुष्ट एवं दृढ़ होता है। जब आत्मा यह जान लेता है कि यह शरीर, इन्द्रिय, भौतिक पदार्थ आदि प्राकृतिक रचना हैं और इस कारण जड़ एवं परिणामी हैं तथा देहादि से भिन्न आत्मतत्त्व चेतन तथा अपरिणामी है, तब वह उनका यथोचित उपयोग करते हुए प्रकृति से असम्पृक्त शुद्धरूप का साक्षात्कार करता है।

वैराग्य—जब मनुष्य विवेक द्वारा सत्यासत्य पदार्थों के सदसत्स्वरूप को जान लेता है, अर्थात् प्रकृति-पुरुष के भेद को भली प्रकार समझ लेता है तो वह नित्य पदार्थों की ओर प्रवृत्त और अनित्य पदार्थों में वितृष्ण हो जाता है। यही वैराग्य का स्वरूप है।

शमदमोपरतितितिक्षाश्रद्धासमाधानानि षट्कसम्पत्तिः—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, और समाधान—ये छह षट्कसम्पत्ति है।

शम—आत्मा और अन्तःकरण को अधर्म से हटाकर धर्माचरण में प्रवृत्त रखना 'शम' है।

दम—श्रोत्रादि इन्द्रियों और शरीर को व्यभिचारादि दुष्कर्मों से हटाकर शुभ कर्मों में लगाना 'दम' है।

उपरति—दुष्ट कर्म करनेवाले पुरुषों से सदा दूर रहना 'उपरति' है।

तितिक्षा—निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ चाहे कितना भी क्यों न हो, हर्ष-शोक को छोड़कर मोक्ष-प्राप्ति के साधनों में प्रवृत्त रहना 'तितिक्षा' है।

श्रद्धा—वेदादि सच्छास्त्रों तथा उनके ज्ञाता आसपुरुषों के वचनों के अनुकूल आचरण 'श्रद्धा' है।

समाधान—चित्त की एकाग्रता को 'समाधान' कहते हैं। यह निरन्तर अभ्यास और वैराग्य से प्राप्त होता है—'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते' (गीता)।

मुमुक्षुत्व—जैसे क्षुधा-तृषातुर को अन्न-जल के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं सूझता, वैसे ही हर समय मुक्ति के साधनों में प्रवृत्त रहना 'मुमुक्षुत्व' कहाता है।

३१. कर्त्ता

जो स्वतन्त्रता से कर्मों का करनेवाला है, अर्थात् जिसके स्वाधीन सब साधन होते हैं, वह कर्त्ता कहाता है।

व्याख्या—पाणिनीय अष्टाध्यायी का सूत्र है—'स्वतन्त्रः कर्त्ता' (१।४।५४)। कर्त्ता वह है जो 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'—करने, न करने तथा अन्यथा करने में स्वतन्त्र है। और 'स्वतन्त्र वह है जिसका प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरणादि उसके अधीन है' (सं० प्र० सम० ७)। ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, तथा भोक्तृत्व जीव के स्वाभाविक गुण हैं, अतः अपने सामर्थ्यानुसार कर्म करने में वह पूर्णरूप से स्वतन्त्र है। अपने बस की बात हो तो पुरुषार्थ ठीक है, परन्तु जहाँ रत्तीभर भी इच्छा या स्वतन्त्रता नहीं रह जाती वहाँ हल में जुते हुए बैलों की तरह दास्यभाव से चलते रहने के सिवा और क्या हो सकता है? किन्तु ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्न तो चेतन आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। इसलिए वह ज्ञानपूर्वक, इच्छानुसार कर्म करने में स्वतन्त्र है। मनुष्य के अन्तःकरण की प्रवृत्ति से भी जीव का कर्मस्वातन्त्र्य स्वतः सिद्ध है। प्रत्येक मनुष्य अपने मन में यही सोचता है कि मैं अपने हाथ से होनेवाले कार्यों की भलाई-बुराई को सोचकर उन्हें अपनी इच्छानुसार करूँ या न करूँ। यदि वह ऐसा करने में स्वतन्त्र न होता तो उसे वेदादि शास्त्रों में विहित कर्मों को करने तथा निषिद्ध कर्मों को परित्याग करने का उपदेश क्यों दिया गया होता?

कर्त्ता ही भोक्ता है। यह सर्वथा न्यायसंगत है। यदि जीवात्मा में स्वतन्त्र कर्त्तव्य नहीं है तो उसमें भोक्तृत्व भी नहीं होगा। श्री अरविन्द ने एक स्थान पर लिखा है—

Learn thou to be the instrument of God. Let thyself be as a leaf in the tempest; as a sword that strikes and the arrow that leaps to its target. The sword does not choose where it shall strike, the arrow does not ask whither

it shall be driven.

—Essay on Superman.

अर्थात् अपने आपको परमात्मा का साधनमात्र समझो। तुम्हारी स्थिति आँधी में उड़ते हुए पत्ते या अपने लक्ष्य की ओर जाती हुई तलवार या तीर के समान हो। तलवार स्वयं यह निर्णय नहीं करती कि उसे किसको काटना है, न तीर ही स्वयं अपने लक्ष्य को निर्धारित करता है।

यदि श्री अरविन्द की बात मानी जाए तो मनुष्य का दायित्व ही समाप्त हो जाए। कर्मस्वातन्त्र्य के मौलिक अधिकार से वंचित होकर जीव यदि ईश्वर की अधीनता में रहकर उसकी इच्छानुसार कर्म करने को बाध्य होगा तो पाप-पुण्य के फल का भागी भी ईश्वर ही होगा, जीव नहीं। शासन के आदेश से किसी को फाँसी पर लटकानेवाले जल्लाद को हत्या का अपराधी नहीं माना जाता। तलवार और तीर दोनों ही जड़ हैं—न उनमें ज्ञान है, न इच्छा। राग-द्वेष का भी उनमें अभाव है, इसलिए उनको लक्ष्य करके कही हुई श्री अरविन्द की बात चेतन जीवात्मपुरुष पर लागू नहीं हो सकती। यह भी स्पष्ट है कि तीर या तलवार से मारे जाने पर तीर या तलवार को अपराधी घोषित कर फाँसी नहीं दी जाती। उसके प्रयोक्ता को ही दण्डित किया जाता है। श्री अरविन्द के अनुसार तो संसार में भला-बुरा जो कुछ भी हो रहा है या होगा उस सबके लिए परमेश्वर ही उत्तरदायी होगा। तब ईश्वरीय न्याय-व्यवस्था का तो कोई अर्थ ही नहीं रहेगा। इस विषय में डॉ० राधाकृष्णन के विचार अधिक युक्तियुक्त एवं सन्तुलित ठहरते हैं। उन्होंने लिखा है—

At a time when people are doing devil's work under divine sanction and consoling themselves by attributing everything to God's will, the principle of work insisted on the primacy of the ethical and identified God with the rule of law. To the Hindu (who believes that the world is divine and everything is God) ethical rules are meaningless. If everything is done by God there is no excuse for our interfering with the sacred duties of a pick-pocket and perjurer.

—Radhakrishnan : Hindu View of Life. P. 50-52.

अर्थात् जब लोग शैतान के काम कर रहे हों और ईश्वरीय इच्छा और व्यवस्था के नाम पर सब-कुछ ईश्वर के मत्थे मढ़ रहे हों तब कर्म-सिद्धान्त न्याय के पक्ष पर बल देता है। हिन्दू के लिए (जो यह मानता है कि जगत् ब्रह्म का ही रूप है और जो भी होता है, वह ईश्वर

का ही किया होता है) नैतिक मूल्यों का कोई अर्थ नहीं रहता और हमें एक जेबकतरे और झूठी गवाही देनेवाले के पवित्र कार्यों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं रहता।

जीवात्मा परमात्मा के हाथों की कठपुतली नहीं है। फलतः उसकी प्रवृत्तियों में परमेश्वर की अन्तःप्रेरणा होने पर भी जीवात्मा का स्वेच्छ-पूर्वक कार्य करने का अधिकार अक्षुण्ण रहता है। परमात्मा कर्तव्याकर्तव्य की दृष्टि से जीवात्मा का मार्गदर्शन तो कर सकता है, पर उस मार्ग पर चलने के लिए उसे विवश नहीं कर सकता।

३२. कारण

जिनको ग्रहण करके करनेवाला किसी कार्य वा चीज़ को बना सकता है, अर्थात् जिसके बिना कोई चीज़ नहीं बन सकती, वह 'कारण' कहाता है, सो तीन प्रकार का है।

व्याख्या—जिसके बिना कोई कार्य नहीं होता, वह कारण कहाता है, इसलिए महर्षि कणाद का कहना है—(१) कारणभावात्कार्यभावः (वै० ४।१।३)—कारण होने पर ही कार्य होता है, जैसे मेघ के होने पर ही वर्षा होती है। (२) कारणाऽभावात् कार्याऽभावः (वै० १।२।१)—कारण के बिना कार्य नहीं होता जैसे मेघ के बिना वर्षा नहीं होती। (३) न तु कार्याऽभावात् कारणाऽभावः (वै० १।२।२) कार्य के अभाव में कारण का अभाव नहीं होता, क्योंकि मेघ के होने पर भी वर्षा का न होना देखा जाता है। (४) कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः (वै० २।१।२४)—जैसे गुण कारण में होते हैं वैसे ही कार्य में होते हैं, जैसे मिट्टी के घड़े में मिट्टी के तात्त्विक गुण होते हैं और सोने से बनी अँगूठी में सोने के।

३३. उपादानकारण

जिसको ग्रहण करके ही उत्पन्न होवे व कुछ बनाया जाए, जैसाकि मिट्टी से घड़ा बनता है, उसे 'उपादानकारण' कहते हैं।

व्याख्या—सृष्टि-रचना में तीन कारण हैं—निमित्त, उपादान तथा साधारण। अवस्थान्तर को प्राप्त होकर बनने-बिगड़नेवाला उपादान-कारण कहाता है, उपादान के बिना कोई वस्तु नहीं बन सकती, क्योंकि उसी से नामरूप की सिद्धि होती है। घड़े के बनने में मिट्टी उपादान-

कारण है। परस्पर विलक्षण वस्तुओं में कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि उपादानकारण के गुण-कर्म-स्वभाव तत्त्वतः उसके कार्य में अवश्य होते हैं। हार आदि को मिट्टी का और घड़े आदि को स्वर्ण का विकार नहीं माना जा सकता, क्योंकि मिट्टी से बनी वस्तु मिट्टी-जैसी और सोने से बनी वस्तु सोने-जैसी अवश्य होती है। चेतनतत्त्व किसी का उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि (१) वह अपरिणामी होता है। इस कारण निर्विकार-अपरिणामी ईश्वर जगत् का उपादान नहीं हो सकता। (२) किसी पदार्थ के उपादानतत्त्व उस पदार्थ के भीतर ही रहते हैं, बाहर नहीं। घड़े का उपादान मिट्टी घड़े में सीमित रहती है, घड़े से परे उसका अस्तित्व नहीं होता। परमेश्वर सृष्टि का उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वव्यापक व सर्वान्तर्यामी होने से वह प्रत्येक वस्तु के बाहर-भीतर सर्वत्र विद्यमान है—‘तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः’ (यजुः० ४०।५)।

३४. निमित्तकारण

जो बनानेवाला है, जैसे कुम्हार घड़े को बनाता है, इस प्रकार के पदार्थों को निमित्तकारण कहते हैं।

व्याख्या—जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने, प्रकारान्तर से बना दे उसे ‘निमित्तकारण’ कहते हैं। निमित्तकारण दो प्रकार का होता है—मुख्य और साधारण। मूल प्रकृति से सृष्टि को बनानेवाला परमात्मा मुख्य निमित्तकारण है और परमेश्वर की बनाई हुई सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविधि कार्यान्तर करनेवाला जीवात्मा साधारण निमित्तकारण है। निमित्तकारण स्वयं अपरिणामी रहकर अपने से इतर पदार्थों को नामरूप प्रदान करता है। बड़ई लकड़ी से मेज़-कुर्सी बनाता है, पर स्वयं मेज़-कुर्सी नहीं बन जाता। इसी प्रकार जुलाहा कपास से वस्त्र बनाता है, स्वयं वस्त्र नहीं बन जाता। परमेश्वर भी प्रकृति-उपादान से जगत् को बनाता है, स्वयं जगद्रूप नहीं हो जाता।

३५. साधारणकारण

जैसेकि चाक, दण्ड आदि और दिशा, आकाश तथा प्रकाश हैं। इनको ‘साधारणकारण’ कहते हैं।

निमित्त और उपादान से अतिरिक्त अन्य अपेक्षित कारण साधारण-कारण कहाते हैं। घड़े के बनने में कुम्हार निमित्तकारण, मिट्टी उपादान तथा दण्ड, चक्र, दिशा, काल आदि साधारणकारण हैं।

३६. कार्य

जो किसी पदार्थ के संयोगविशेष से स्थूल होके काम आता है, अर्थात् जो करने योग्य है, वह उस कारण का कार्य कहाता है।

व्याख्या—इस प्रकार किसी भी वस्तु के कार्यरूप में आने के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है—(१) नामरूप देनेवाली चेतन सत्ता जो स्वयं अपरिणामी रहकर परिरमण में समर्थ हो। (२) मूल उपादान जो स्वयं तो कार्यरूप में परिणत न हो सके, किन्तु किसी चेतनसत्ता द्वारा संयोगविशेष से नामरूप धारण कर सके। (३) वे साधन जो न तो निमित्तकारण के समान कुछ बना सकें, न स्वयं कुछ बन सकें, किन्तु जिनके सहयोग के बिना नामरूप न दिये जा सकें।

३७. सृष्टि

जो कर्त्ता की रचना से कारणद्रव्य किसी संयोगविशेष से अनेक बार कार्यरूप होकर वर्त्तमान में व्यवहार करने योग्य होती है, वह 'सृष्टि' कहाती है।

व्याख्या—सृष्टि के स्वरूप के विषय में ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में लिखा है—“नित्यायाः सत्त्वरजस्तमसां साम्या-
वस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां परमसूक्ष्माणां पृथक् पृथग्वर्त्तमानानां तत्त्व-
परमाणूनां प्रथमः संयोगारम्भः संयोगविशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकार-
प्राप्तिः सृष्टिरुच्यते।”

इस सन्दर्भ का भाषानुवाद इस प्रकार किया गया है—

‘सत्त्व’=शुद्ध, ‘रजः’=मध्य, ‘तमः’=जाड्य, अर्थात् जड़ता—तीन वस्तु मिलके जो एक संघात है, उसका नाम ‘प्रकृति’ है। उससे महत्तत्त्व बुद्धि, उससे अहंकार, उससे पाँच तन्मात्रा, सूक्ष्मभूत, और दश इन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन, पाँच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पाँच भूत—ये चौबीस और पच्चीसवाँ पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर है।

इनमें से प्रकृति अविकारिणी और महत्तत्त्व, अहंकार तथा पाँच सूक्ष्मभूत प्रकृति का कार्य और इन्द्रियाँ, मन तथा स्थूलभूतों का कारण हैं।

अनादि नित्यस्वरूप सत्त्व, रजस्, और तमोगुण की एकावस्थारूप प्रकृति से उत्पन्न जो परमसूक्ष्म पृथक्-पृथक् तत्त्वावयव विद्यमान हैं,

उन्हीं का प्रथम जो संयोग का आरम्भ है, उन संयोगविशेषों से अवस्थान्तर—दूसरी-दूसरी अवस्था को सूक्ष्म से स्थूल-स्थूल बनते-बनते विचित्ररूप बनी है, इसी से यह संसर्ग होने से सृष्टि कहाती है।

इस सन्दर्भ पर आचार्य उदयवीर शास्त्री की टिप्पणी है—

“इस आनुपूर्वी में यह सन्दर्भ आज तक कहीं उपलब्ध नहीं हो सका। लेखक की शैली के अनुसार यहाँ सन्दर्भ के पहले या पीछे ऐसा कोई संकेत नहीं किया गया जिससे प्रस्तुत सन्दर्भ के कहीं से उद्धृत होने का आभास हो सके, जबकि ग्रन्थ में प्रायः सर्वत्र उद्धृत सन्दर्भों के लिए मूल ग्रन्थ के विषय में संकेत उपलब्ध होते हैं। इससे प्रतीत होता है कि इस विषय में शास्त्रप्रतिपादित सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए उन्होंने स्वयं इस सन्दर्भ की रचना की है”।

इस सन्दर्भ के तीन भाग हैं—

१—सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है।

२—प्रकृति से परमसूक्ष्म तत्त्व परमाणुओं की सृष्टि होती है।

३—उन परमसूक्ष्म तत्त्वों का परस्पर संयोग होकर विभिन्न तत्त्वों के इस प्रकार अन्योन्य मिथुन से विविध रचना के क्रमानुसार स्थूलाकार जगत् का निर्माण होता है।

प्रत्येक कार्य के लिए तीन का होना आवश्यक है। ‘भोगापवर्गार्थं दृश्यम्’ (योग० २।१८) के अनुसार यह संसार भोग और अपवर्ग का साधन है। यदि भोग्य है तो उसके भोक्ता का होना आवश्यक है। भोग्य और भोक्ता के होने पर भोग्य को प्रस्तुत करने और दोनों का नियमन करनेवाली सत्ता का होना भी आवश्यक है। किसी पदार्थ का उपादानकारण सदा अचेतन तत्त्व होता है। चेतन तत्त्व केवल कर्त्ता या भोक्ता हो सकता है। अचेतन प्रकृति स्वयं अपनी भोक्ता नहीं हो सकती। ईश्वर के पूर्ण एवं आप्तकाम होने से सृष्टि में उपलब्ध पदार्थों का उपभोग करने के लिए दोनों से भिन्न कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए। इसलिए ईश्वर की प्रेरणा से प्रकृति का परिणामरूप जगत्सर्ग जीवात्मा के भोग के लिए होता है। खानेवाला कोई न हो तो कौन भोजन बनाने बैटेगा? इस खानेवाले अर्थात् भोक्ता की संज्ञा ‘जीव’ है। यदि खाने को कुछ न हो तो खानेवालों को बुलाकर कौन बिठाएगा? भोग्य के रूप में प्रस्तुत ‘प्रकृति’ है।

अचेतन प्रकृति स्वयं कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकती। उसे

गति देने तथा नियन्त्रित करने के लिए किसी सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ पुरुषविशेष का होना नितान्त आवश्यक है। वही ईश्वर है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।१२) में इन तीन कारणों एवं सत्ताओं का उल्लेख 'भोग्यभोक्ताप्रेरयितारञ्च' कहकर किया है। इन तीन में से किसी एक के न रहने पर सृष्टिरचना सम्भव न होगी।

सत्यार्थप्रकाश (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश) में इतना विशेष लिखा है—

सृष्टि का प्रयोजन—सृष्टि का प्रयोजन यही है कि जिसमें ईश्वर के सृष्टिनिमित्त गुण-कर्म-स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसी ने किसी से पूछा—नेत्र किसलिए हैं ? उसने कहा (उत्तर दिया)—देखने के लिए। वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग कराना आदि भी।

महर्षि वेदव्यास ने ईश्वर की पहचान ही 'जन्माद्यस्य यतः' (वेदान्त० १।१।२) कहकर कराई है। जब ईश्वर का काम ही सृष्टि की उत्पत्ति आदि करना है तो ऐसा न करने पर तो वह अपनी सत्ता ही खो बैठेगा। इसलिए ग्रन्थकार का यह कहना कि ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता के लिए उसका सृष्टि की रचना करना आवश्यक है, सर्वथा सटीक है। सृष्टि के अभाव में जीव न पूर्वजन्मों का फल भोग सकते हैं, न भविष्य के लिए कर्म करने में प्रवृत्त हो सकते हैं।

३८. जाति

जो जन्म से लेकर मरणपर्यन्त बनी रहे, जो अनेक व्यक्तियों में एकरूप से प्राप्त हो, जो ईश्वरकृत, अर्थात् मनुष्य, गाय, अश्व और वृक्षादि समूह हैं, वे 'जाति' शब्दार्थ से लिये जाते हैं।

व्याख्या—महाभाष्य में अष्टाध्यायी के ४।१।६३ सूत्र में प्रयुक्त 'जाति' शब्द की व्याख्या करते हुए व्याकरण महाभाष्य में जाति का लक्षण इस प्रकार किया है—

आकृतिग्रहणा जातिलिङ्गानां च न सर्वभाक्।

सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥

इसकी व्याख्या करते हुए कैयट ने लिखा है—“आकृतिग्रहणं यस्याः सा आकृतिग्रहणा अवयव-सन्निवेशव्यङ्गतेत्यर्थः। एतेन गोत्व-अश्वत्वादिर्जातिर्लक्षिता ब्राह्मणत्वादस्तु न संगृहीता। ब्राह्मणक्षत्रियादीनां

संस्थानस्य सदृशत्वादिति।”

इसका तात्पर्य यह है कि जिसका आकृति=शरीर—अवयव-रचनादिविशेष से ज्ञान होता है, वह जाति है, जैसे गोत्व, अश्वत्वादि। ब्राह्मण, क्षत्रियादि के शरीर-अवयव रचना में समानता होने से ब्राह्मण आदि का जाति से ग्रहण नहीं होता।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ब्राह्मणादि आकृतिमात्र से ज्ञेय उस प्रकार की मुख्य जाति नहीं है।

‘समानप्रसवात्मिका जातिः’ (न्याय० २।२।६८) इस सूत्र का तात्पर्य भी प्रकृति-ग्रहण जाति से ही है। यतः ब्राह्मणादि सामान्य जातिलक्षण से जातिवाचक नहीं हैं, अतः ये शास्त्रीय पारिभाषिक जाति होने से मनुष्य जाति के अन्दर विशेष जाति हैं। इसी से इन्हें सामान्य विशेषात्मक जाति कहते हैं।

वस्तुतस्तु ब्राह्मणादि जातिवाचक न होकर वर्णवाचक शब्द हैं।

सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में ग्रन्थकार ने इस विषय का विवेचन इस प्रकार किया है—

प्रश्न—जातिभेद मनुष्यकृत है या ईश्वरकृत?

उत्तर—ईश्वरकृत और मनुष्यकृत भी है।

प्रश्न—कौन-से ईश्वरकृत और कौन-से मनुष्यकृत?

उत्तर—मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष, जल-जन्तु आदि जातियाँ ईश्वरकृत हैं। जैसे पशुओं में गौ, अश्व, हस्ति, आदि जातियाँ; वृक्षों में पीपल, वट, आम आदि; पक्षियों में हंस, काक, वक आदि; जल-जन्तुओं में मत्स्य, मकरादि जातिभेद ईश्वरकृत है, वैसे मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज जातिभेद हैं, परन्तु मनुष्यों में ब्राह्मणादि को सामान्य जाति में कहीं, किन्तु सामान्य विशेषात्मक जाति में गिनते हैं।

जाति, आयु और भोग की प्राप्ति में पूर्वजन्म के कर्म ही कारण हैं। कर्मों के स्थान पर ईश्वर की इच्छा या अनुग्रह को कारण माना जाएगा तो सृष्टि में उपलब्ध वैषम्य एवं नैर्घृण्य के लिए भी वही उत्तरदायी होगा और इस प्रकार वह अन्यायी सिद्ध होगा, फलतः जीवों की भी धर्म में प्रवृत्ति न होकर संसार में पाप की वृद्धि होगी।

जब इसी जन्म में पाप-पुण्य बराबर हों तो सीधे और जब पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हों तो पश्वादि के शरीरों में भोगकर जब पाप-

पुण्य बराबर हों तो मनुष्य का जन्म मिलता है।

इसमें भी पाप-पुण्य के उत्तम, मध्यम, निकृष्ट होने पर मनुष्य-योनि में भी उत्तम, मध्यम, निकृष्ट शरीर मिलता है।

उभययोनि होने से इस देह में रहकर जीव पूर्वकृत कर्मों का फल भोगते हुए भविष्य के लिए अन्य अनुष्ठानों में प्रवृत्त रहता है।

जैसे शरीर की उत्पत्ति में कर्म निमित्त हैं, वैसे ही शरीरविशेष के साथ संयुक्त होने अर्थात् योनिविशेष में जन्म लेने में भी पूर्वजन्म के कर्म ही कारण हैं। यह भी देखा गया है कि जिनकी जाति अर्थात् प्रसव समान है उनकी आयु समान होती है और जिनका प्रसव और आयु समान है उनका भोग भी प्रायः समान होता है।

३९. मनुष्य

जो विचार के बिना किसी काम को न करे, उसका नाम 'मनुष्य' है।

व्याख्या—'व्यवहारभानु' में इस विषय का उल्लेख प्रश्नोत्तर के रूप में इस प्रकार मिलता है—

प्रश्न—'मनुष्यपन' किसको कहते हैं?

उत्तर—इस मनुष्यजाति में एक ऐसा गुण है कि वैसा किसी दूसरी जाति में नहीं पाया जाता।

प्रश्न—वह कौन-सा?

उत्तर—जितने मनुष्य से भिन्न जातिस्थ प्राणी हैं, उनमें दो प्रकार का स्वभाव है—बलवान् से डरना, निर्बल को डराना और पीड़ा देकर अर्थात् दूसरे का प्राण तक निकालके अपना मतलब साध लेना देखने में आता है। जो मनुष्य ऐसा ही स्वभाव रखता है उसको भी इन्हीं जातियों में गिनना उचित है, परन्तु जो निर्बलों पर दया, उनपर उपकार और निर्बलों को पीड़ा देनेवाले अधर्मी बलवानों से किञ्चिन्मात्र भी भय-शंका न करके इनको परपीड़ा से हटके निर्बलों की रक्षा तन-मन-धन से सदा करता है, वही मनुष्यजाति का निज गुण है, क्योंकि जो बुरे कर्मों के करने में भय और सत्य कामों के करने में किञ्चित् भी भय-शंका नहीं करते, वे ही मनुष्य धन्यवाद के पात्र कहाते हैं (धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः —स० प्र० समु० ३)।

इसी का मानो विशदीकरण करते हुए, ग्रन्थकार ने 'स्वमन्तव्या-मन्तव्यप्रकाश' में लिखा है—

‘मनुष्य’ उसी को कहना जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यो के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना नहीं, किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की, चाहे वे महानाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी, चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस ‘मनुष्यपन’ धर्म से पृथक् कभी न होवे।

इसमें श्रीमान् भर्तृहरिजी आदि ने जो श्लोक कहे हैं, उनका लिखना उपयुक्त समझकर लिखता हूँ—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव का मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

—नीतिशतक ८४

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्, धर्मं त्यज्जेजीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्यो जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

—महाभारते उद्योगपर्व ४०।११-१२

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।

शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्भि गच्छति॥ —मनुः ८।१६

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।

येनाऽऽब्रुमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥

—मुण्डकः ३।१।६

न हि सत्यात्परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।

न हि सत्यात् परं ज्ञानं तस्मात् सत्यं समाचरेत्॥

—अनुपलब्धमूल

उपर्युक्त उद्धरणों के द्वारा ग्रन्थकार ने ‘मनुष्य’ अथवा ‘मनुष्यपन’ में अपेक्षित जिन पाँच बातों का निर्देश किया है, वे हैं—१. मननशील होना, २. स्वात्मवत् व्यवहार, ३. यथायोग्य व्यवहार, ४. निर्बल संरक्षण,

५. सत्याचरण।

मननशील—‘मनुष्य’ शब्द का निर्वचन करते हुए निरुक्त २।६ में लिखा है—“मनुष्याः कस्मात्? मत्वा सीव्यन्ति कर्माणि, मनस्यमानेन सृष्टाः मनसातिः पुनर्मनस्वीभावे, मनोरपत्यं मनुषो वा।”

मनुष्य को मनुष्य इसलिए कहा जाता है कि (क) ये सोच-विचारकर कर्मों को फैलाते हैं, बिना विचारे ही अनेक प्रकार के कर्मों को नहीं बढ़ाते। ‘मन्’ तथा ‘षिबु’ तन्तु सन्ताने—इन दोनों धातुओं के योग से बहुल द्वारा औणादिक ‘ट्यन्’ प्रत्यय, मन् ष्य-मनुष्य। (ख) प्रशस्त मनवाले से जो पैदा हुए हैं, वे मनुष्य हैं। पतित मन की अवस्था में पैदा करने से सन्तान पशुवत् ही पैदा होती है, मनुष्य नहीं बन सकती। मनस्यमानेन सृष्टाः=मनष्टाः-मनुष्याः। ‘मन स्’ धातु प्रशस्त मनवाला—इस अर्थ में है। (ग) मनन-शील की सन्तान मनुष्य होगी। मनु और मनुष्—ये दोनों शब्द मननशील अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। ‘मनुष्’ से केवल ‘यत्’ प्रत्यय लगने पर ही मनुष्य सिद्ध हो जाएगा।

मनुस्मृति में लिखा है—‘भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिषु बुद्धिजीविनः, बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः’। ‘ज्ञान’ तो जीवात्मा का स्वाभाविक गुण है। जैसे-जैसे उसका विकास होता जाता है, वैसे-वैसे उसका श्रेष्ठत्व बढ़ता जाता है। मनुष्ययोनि में उसका इतना विकास हो जाता है कि वह सोच-विचारकर काम करने लग जाता है। इसलिए अंग्रेजी में कहा जाता है—‘Man is a rational animal’.

स्वात्मवत् व्यवहार—पशु अपने लिए जीता है, पर मनुष्य दूसरों के लिए भी जीता है। सामाजिक प्राणी होने के कारण उसे समाज में रहना सीखना पड़ता है। पशुओं का समूह ‘समज’ कहलाता है तो मनुष्य के समूह को ‘समाज’ कहते हैं। ‘समज’ में प्रत्येक व्यक्ति आत्म-केन्द्रित रहकर अपने हित की बात सोचता है, परन्तु समाज में प्रत्येक व्यक्ति सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति मानता है, वेदव्यासजी ने गीता में श्रीकृष्ण के माध्यम से कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

—गीता ६।३२

जगद्गुरु शंकराचार्य ने अपने गीताभाष्य में इस श्लोक की व्याख्या में लिखा है—

यथा मम सुखमिष्टं तथा सर्वप्राणिनां सुखमनुकूलं यदि वा

यच्च दुःखं मम प्रतिकूलमनिष्टं यथा सर्वप्राणिनां दुःखमनिष्टं
प्रतिकूलमित्येवमात्मौपम्येन सुखदुःखे, अनुकूलप्रतिकूले तुल्यतया
सर्वभूतेषु समं पश्यति न कस्यचित् प्रतिकूलमाचरति।

—गीता-शांकरभाष्य

जो मनुष्य यह समझ जाता है कि जैसे मुझे अनुकूलता में सुख
और प्रतिकूलता में दुःख होता है, वैसे ही दूसरों को भी अनुकूलता
में सुख और प्रतिकूलता में दुःख होता है वह कभी किसी के प्रतिकूल
आचरण नहीं करता।

वेद, उपनिषद्, गीता, आदि में सिद्धान्ततः प्रतिष्ठित इस तत्त्व की
व्याख्या करते हुए व्यासमुनि कहते हैं—

न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।

एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्त्तते॥

—महा० अनु० ११३।६

मनुष्य औरों के साथ ऐसा व्यवहार न करे जो स्वयं को प्रतिकूल
या दुःखद जान पड़े। यही सब धर्म और नीतियों का सार है। प्राणिमात्र
में आत्मौपम्यबुद्धि से व्यावहारिक नीतिधर्म की वैसी उपपत्ति लगती
है जैसी और किसी भी तत्त्व से नहीं लगती। युधिष्ठिर को धर्म का
सार बताते हुए व्यासमुनि कहते हैं—“आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न
समाचरेत्।” इसी भावना से ग्रन्थकार ने निर्णायक शब्दों में कहा है
कि-‘मनुष्य’ उसी को कहना जो स्वात्मवत् अन्यो के सुख-दुःख और
हानि-लाभ को समझे।”

‘अन्यायकारियों के बल की हानि’ —ऋग्वेद (१०।५३।४)
का आदेश है-‘असुराँ अभि देवा असाम’-‘हम दुष्टों को पराजित करें।’
‘अपनी-अपनी जगह सब ठीक है,’ आधुनिकता अथवा मानवता और
भलमनसाहत की पहचान बन गया है, किन्तु इस ‘रामाय स्वस्तिः,
रावणाय स्वस्तिः’ की उपलब्धि तो शून्य है। यह आत्मप्रवंचन या
भ्रमजाल के अतिरिक्त कुछ नहीं है। किसान या माली खरपतवार के
नाम से बदनाम व्यर्थ के या हानिकारक पौधों को निकाल फेंकता है
और उपयोगी पौधों को खाद-पानी देकर पुष्ट करता है। शरीर को हानि
पहुँचानेवाले अंग को काटकर फेंक देना शरीर को स्वस्थ रखने के
लिए उतना ही आवश्यक हो जाता है जितना उसके स्थान पर स्वस्थ
अंग का प्रत्यारोपण करना। योगिराज श्रीकृष्ण (जिन्हें अधिसंख्य लोग
स्वयं भगवान् का अवतार मानते हैं) के माध्यम से महर्षि वेदव्यास

गीता में 'परित्राणाय साधूनाम्' के साथ 'विनाशाय च दुष्कृताम्' का निर्देश करना नहीं भूलते। दुष्टों का दमन किये बिना सज्जनों की रक्षा नहीं हो सकती। राक्षसों का संहार किये बिना ऋषियों के यज्ञ का सम्पन्न होना सम्भव नहीं। वेद में 'भद्रं तन्न आसुव' से पहले 'दुरितानि परा सुव' की प्रार्थना की गई है। जब तक 'दुरित' दूर होकर जगह खाली नहीं करेंगे तब तक 'भद्र' को जगह कहाँ मिलेगी?

वाइबल (ल्यूक ६।२९) में लिखा है—

"If some slaps you on one cheek, let him offer the other too,
If someone demands your coat, give him your shirt besides."

क्या यह व्यावहारिक है? क्या किसी मसीही देश के अथवा मसीही मत को माननेवाले किसी व्यक्ति ने कहीं भी और कभी भी इसके अनुकूल आचरण किया है? जर्मनी के एक राजनीतिज्ञ ह्यायकल ने इसपर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा था—'इसका अर्थ यह है कि यदि इंग्लैंड जर्मनी के एक प्रान्त पर अधिकार कर ले तो सारा जर्मनी उसको सौंप देना चाहिए। क्या यह सम्भव है?

चीन में दो बड़े दार्शनिक हुए हैं—लियाट्जो और कनफ्यूशस। लियाट्जो का कहना था—Return good for good and return good for evil. भलाई का बदला भलाई से दो और बुराई का बदला भी भलाई से दो।

अपने शिष्यों से पूछे जाने पर कनफ्यूशस ने कहा—"That will make good and evil equal." इससे तो भलाई और बुराई में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा।

एक शिष्य ने सुझाव दिया—"We should return good for good and evil for evil"—हमें भलाई के बदले भलाई करनी चाहिए और बुराई के बदले बुराई। इसपर गुरु बोले कि ऐसा करने से तो तुम भी बुरे हो जाओगे। फिर क्या करें? इसपर कनफ्यूशस ने निर्णायक स्वर में कहा—"Return good for good and justice for evil"—भलाई के बदले भलाई करो और बुराई के बदले न्याय।

ग्रन्थकार ऋषि थे। उन्होंने एक झटके में नपे-तुले शब्दों में कह दिया—"सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य वर्तना चाहिए"। यह निर्देश व्यावहारिक भी है और न्यायानुकूल भी। यथायोग्य से पहले 'प्रीतिपूर्वक' और 'धर्मानुसार' इन दो शब्दों को जोड़कर उन्होंने 'यथा-योग्य' को 'जैसे को तैसा' या "Tit for tat" का पर्यायवाची समझे

जाने से बचा लिया। यही 'मानवधर्म' है। जिसे 'वैदिक धर्म' कहते हैं। निर्वल परन्तु धार्मिक व्यक्ति की रक्षा और बलवान् परन्तु दुष्ट व्यक्ति को हानि पहुँचाने को पुण्य कर्म मानते हुए उसके करने में प्राणों का उत्सर्ग करने में भी संकोच न करनेवाले की ही 'मनुष्य संज्ञा' है।

निन्दन्तु—नीतिनिपुण लोग चाहे निन्दा करें चाहे प्रशंसा, धनैश्वर्य, चाहे आये चाहे चला जाए, आज ही मृत्यु हो जाए, चाहे दीर्घायु का वरदान मिल जाए, धीर पुरुष कभी भी न्याय के मार्ग से विचलित नहीं होते।

अंग्रेजी के एक कवि ने कहा है—

Some will hate thee,
Some will flatter, some will slight,
Cease from man, look upon thee,
Trust in God and do the right.

न जातु कामात्र—कामना से, भय से, क्रोध से, लोभ से, तथा जीवन के मोह से धर्म का परित्याग न करे। धर्म नित्य है, किन्तु सुख-दुःख, अनित्य है। जीव नित्य है किन्तु इसका कारण अनित्य है। (अनित्य को छोड़कर नित्य में प्रतिष्ठित हो—'त्यक्त्वानित्यं प्रतिष्ठस्व नित्ये')।

एक एव—इस संसार में केवल धर्म ही मित्र है, जो मृत्यु के बाद भी मनुष्य के साथ जाता है। शेष सब पदार्थ शरीर के साथ ही नष्ट हो जाते हैं।

सत्यमेव जयते—सदा सत्य की जय होती है, असत्य की कभी नहीं। **देवयान**—देव की ओर ले-जानेवाला मार्ग सत्य से ही बना है। इस मार्ग का अनुसरण करनेवाला आप्तकाम ऋषि जहाँ पहुँचता है, वह परमधाम सत्य का ही है।

न हि सत्यात्—निश्चय ही सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है और झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि मन, वचन, और कर्म से सदा सत्य का ही आचरण करे।

४०. आर्य

जो श्रेष्ठ स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्यविद्या आदि गुणयुक्त और आर्यावर्त्त देश में सब दिन से रहनेवाले हैं, उनको 'आर्य' कहते हैं।

व्याख्या—'आर्य' शब्द 'ऋ गतौ' धातु से बनता है। गति का अर्थ है ज्ञान, गमन और प्राप्ति। इस धात्वर्थ के आधार पर आर्य वे

हैं जो ज्ञानसम्पन्न हैं, जो सदा सन्मार्ग की ओर अग्रसर रहते हैं, और परमानन्द को प्राप्त करते हैं। ऋग्वेद १०।६५।११ में कहा है—“आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि”, अर्थात् आर्य वे कहते हैं जो धरती पर सत्य, अहिंसा, पवित्रता, परोपकार आदि व्रतों को विशेष रूप से धारण करते हैं। ऋग्वेद १।५१।८ में आर्य शब्द दस्यु के विलोम अर्थ में आया है—“विजानीह आर्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्ध्या शासद्व्रतान्”। दस्युओं के लिए यहाँ विशेष रूप से ‘अव्रतान्’ शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे आर्य से व्रती, श्रेष्ठ गुणयुक्त, परोपकारी, मनुष्य अभिप्रेत हैं। वेदों में जहाँ कहीं भी आर्य शब्द आया है वहाँ सर्वत्र वह शुभ गुणों से युक्त मनुष्य का वाचक है, स्पष्ट है कि आर्य और दस्यु शब्द गुणवाचक हैं, जातिवाचक नहीं। आर्यशब्द प्रचलित अर्थों में जातिवाचक हो तो ‘कृण्वन्तो विश्वमार्यम्’ यह उद्धोष निरर्थक हो जाता है, क्योंकि किसी के गुणों को तो बदला जा सकता है, उसकी जाति (Caste or race) को नहीं। योगवासिष्ठ (६ पू०।१२६।५४) में कहा है—

कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन्।

तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः ॥

जो कर्तव्य कर्मों का सदा आचरण करता है और अकर्तव्य कर्मों अर्थात् पापों से सदा दूर रहता है, वह आर्य कहाता है। श्री राम के आर्य होने का परिचय देते हुए वाल्मीकि रामायण में लिखा है—“आर्यः सर्वसमश्चायं सोमवत् प्रियदर्शनः” (बालकाण्ड १।१६) श्री राम चन्द्रमा की तरह प्रियदर्शन तथा सबको समदृष्टि से देखनेवाले थे। अयोध्याकाण्ड में दो स्थानों पर राम को वन भेजने के कारण कैकेयी की ‘अनार्या’ कहकर निन्दा की गई है। अर्जुन के युद्ध से विरत होने के कारण श्रीकृष्ण ने उसके कार्य को ‘अनार्यजुष्ट’ कहकर उसकी भर्त्सना की थी। महात्मा बुद्ध ने सज्जनों के लिए सर्वत्र आर्य शब्द का प्रयोग करते हुए उसका लक्षण इस प्रकार किया है—

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति।

अहिंसा सब्बपाणानां अरियोति पवुच्चति ॥

—धम्मपद २७०

अर्थात् प्राणियों की हिंसा करनेवाला आर्य नहीं होता। सब प्राणियों के प्रति अहिंसाभाव रखनेवाला आर्य होता है।

बौद्ध मत के मूलभूत सिद्धान्तों को चार आर्यसत्य और मोक्षप्राप्ति

के साधनों को आर्य अष्टाङ्ग मार्ग तो कहा ही है, बुद्ध ने अपने मत को भी आर्यधर्म के नाम से अभिहित किया है।

श्री अरविन्द ने आर्य के अर्थ और महत्त्व के सम्बन्ध में लिखा है—“आर्य शब्द में उदारता, नम्रता, श्रेष्ठता, साहस, सरलता, पवित्रता, दया, निर्बल-संरक्षण, ज्ञान के लिए उत्सुकता, सामाजिक कर्तव्य-पालनादि, सब उत्तम गुणों का समावेश है। मानवीय भाषा में इससे उत्तम और कोई शब्द नहीं है”। उनके अपने शब्दों में—

“The word Arya expresses a particular ethical and social order of well governed life, candour, courtesy, nobility, straight dealing, courage, gentleness, purity, compassion, protection of the weak, liberality, observance of social duties, eagerness for knowledge, respect for the wise and the learned and social accomplishments. There is no word in human speech that has a nobler history.”

—The Arya, Vol. I, P. 63.

प्राचीन साहित्य में आर्य शब्द जाति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ कहीं नहीं मिलता। राम आदि को लंकावासी मनुज, मानव, आदि कहते थे, और अपने आपको बड़े गर्व से राक्षस नाम से पुकारते थे, परन्तु आर्य नाम सबके लिए समानरूप से प्रयुक्त होता था। विभीषण के सीता को लौटाने सम्बन्धी प्रस्ताव को जब रावण ने ठुकरा दिया तो विभीषण ने रावण के व्यवहार और वक्तव्य को ‘अनार्याजुष्टम्’ (अनार्यों के योग्य) बताया। अर्जुन के युद्ध से विरत होने पर इसी शब्द का प्रयोग उसके व्यवहार के लिए श्रीकृष्ण ने किया था। रावण की मृत्यु के पश्चात् राक्षस स्त्रियाँ युद्धभूमि में अपने पतियों को खोजती हुई ‘हा आर्यपुत्र’ जैसे शब्दों से आर्त्तनाद कर रही थीं। सुन्दरकाण्ड में सुग्रीव के लिए भी सीता ने आर्य शब्द का प्रयोग किया है। जब अयोध्यावासियों के समान वानरों और राक्षसों को भी आर्य कहा जा सकता है तब आर्य शब्द को किसी जातिविशेष का सूचक कैसे माना जा सकता है? अपनी संस्कृति पर गर्व करनेवाले लेखक वानरों और राक्षसों के लिए आर्य शब्द का प्रयोग कैसे कर सकते थे? अतः किसी भी विधा से आर्य शब्द जाति-बोधक सिद्ध नहीं होता। कालान्तर में यह शब्द अवश्य वैदिक आर्यों के लिए रूढ़ हो गया।

४१. आर्यावर्त्त देश

हिमालय, विन्ध्याचल, सिन्धु नदी और ब्रह्मपुत्रा नदी—

इन चारों के बीच और जहाँ तक उनका विस्तार है, उनके मध्य में जो देश हैं, उसका नाम 'आर्यावर्त' है।

व्याख्या—सृष्टि के आरम्भ में मानव सृष्टि का प्रादुर्भाव कैलास-मानसरोवर के आसपास सात नदियों के उद्गम स्थान में हुआ। वही आर्यों का मूल अभिजन था। अनन्तर काल में भौगोलिक उथल-पुथल के कारण उस प्रदेश की स्थिति में बड़ा भारी अन्तर आया। कालान्तर में वहीं से आर्यजन बढ़ते-बढ़ते हिमालय की निम्न पर्वतश्रेणियों के पश्चिमी और दक्षिणी मैदान प्रदेश में आ गये। तब उन प्रदेशों के आर्यवर्त एवं भारतवर्ष आदि नाम प्रचलित हुए। प्राचीन काल में ही कभी आर्यावर्त के अवान्तर प्रदेश ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश आदि नामों से प्रसिद्ध हुए।

हिमालय से उतरकर आर्य लोग सीधे वर्तमान में भारत नाम से अभिहित भूखण्ड में आकर बस गये। जिस रास्ते से वे यहाँ आये उस रास्ते का नाम उन्होंने हरद्वार रक्खा। अपने उस निवासस्थान का नाम उन्होंने आर्यावर्त या ब्रह्मावर्त रक्खा। मनुस्मृति २।२ में आर्यावर्त की सीमाओं का इस प्रकार निर्देश किया है—

आ समुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।

तयोरेवान्तरं गिर्योरायावर्त्तं प्रचक्षते ॥

अर्थात् पूर्वसमुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र पर्यन्त विद्यमान उत्तर में हिमालय और दक्षिण में स्थित विन्ध्याचल का जो मध्यवर्ती देश है, उसे विद्वान् लोग आर्यावर्त कहते हैं। सत्यार्थप्रकाश के आठवें समुल्लास में इस श्लोक का निर्देश कर आर्यावर्त की सीमाओं का निर्धारण करते हुए ऋषि ने लिखा है—“हिमालय की मध्य रेखा से दक्षिण और पश्चिम पहाड़ों के भीतर और रामेश्वरपर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने प्रदेश हैं, उन सबको आर्यावर्त इसलिए कहते हैं कि यह आर्यावर्त देश देवों अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्यावर्त कहाया।” आजकल विन्ध्याचल को उत्तर और दक्षिण भारत को पृथक् करनेवाला पर्वत माना जाता है। वास्तव में यह पूर्वी और पश्चिमीघाट नामक पर्वतमाला का नाम है। तभी स्वामी दयानन्द ने 'रामेश्वरपर्यन्त' शब्दों का प्रयोग किया है। इसमें वाल्मीकि रामायण की यह साक्षी है—

दृष्टपक्षिगणाकीर्णः कन्दरान्तर्गतकूटवान् ।

दक्षिणस्योदधेस्तीरे विन्ध्योऽयमिति निश्चयः ॥

—कि० काण्ड ६०।७

प्रसन्न पक्षियों के झुण्डों से भरपूर और कन्दराओं से परिपूर्ण दक्षिण-समुद्र के तट पर निश्चित ही यह विन्ध्याचल है।

इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में विन्ध्याचल उस पर्वतमाला का नाम था जिसे आजकल पूर्वी और पश्चिमीघाट कहते हैं।

४२. दस्यु

अनार्य अर्थात् जो अनाड़ी, आर्यों के स्वभाव और निवास से पृथक् डाकू, चोर, हिंसक जोकि दुष्ट मनुष्य है, वह 'दस्यु' कहाता है।

व्याख्या—आर्य की भाँति दस्यु भी गुणवाचक शब्द है। इसलिए आर्य (श्रेष्ठ) के विलोम अर्थ में 'दस्यु' शब्द दुष्ट के अर्थ में प्रयुक्त होता है, अतः सब देशों और सब कालों में दस्यु होते हैं। महाभारत में कहा है—

दृश्यन्ते मानुषे लोके सर्ववर्णेषु दस्यवः।

लिङ्गान्तरे वर्त्तमाना आश्रमेषु चतुर्ध्वपि॥

—शान्तिपर्व ६५।२३

मनुष्यलोक में सभी वर्णों और आश्रमों में दस्यु स्वभाव के लोग हो सकते हैं।

'दस्यु' शब्द का अर्थ और उसकी व्युत्पत्ति भी उसके मनुष्य के गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित होने की पुष्टि करते हैं। 'दसु उपक्षये' धातु से 'युच्' प्रत्यय के योग से दस्यु शब्द बनता है। निरुक्त ७।२३ में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—'दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थादुपदस्यन्त्यस्मिन् रसा, उपदासयति कर्माणि'—दस्यु वह है जिसमें रस या उत्तम गुणों का सार कम होता है, जो शुभ कर्मों से क्षीण होता है या शुभ कर्मों में बाधा डालता है। ऋग्वेद में कहा है—

“अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यत्रतो अमानुषः”

—ऋ० १०।२२।८

अर्थात् दस्यु वह है जो अकर्मण्य है या जो सोच-विचार कर कार्य नहीं करता, जो अहिंसा, सत्य, दया आदि का पालन न करके उसके विपरीत हिंसा, असत्य, क्रूरता आदि का व्यवहार करता है।

वेदों में ऐसे अमानवीय एवं असामाजिक तत्त्वों को ही दस्यु नाम से अभिहित करके उनके नाश पर बल दिया है। ऋग्वेद ६।२२।१० का भाष्य करते हुए ऋषि ने लिखा है—“इन्द्र का कार्य 'दासानि' = कर्म-

हीनानि मनुष्यजातानि"—अकर्मण्य मनुष्यों को 'आर्याणि'=श्रेष्ठ मनुष्य (कर्म-युक्तानि) बनाना है। इससे स्पष्ट है कि आर्य और दस्यु में भेद अर्जित गुणों के कारण है, जातिविशेष के कारण नहीं।

मद्रास यूनिवर्सिटी के श्री वी० आर० रामचन्द्रदीक्षितार ने २९-३० नवम्बर १९४० को मद्रास यूनिवर्सिटी में दो महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिये थे जो वहाँ की एडियार लायब्रेरी से १९४७ में 'Origin and spread of the Tamils' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए थे। तदनुसार

"The fact is that the Dasyus were not non-Aryans. The theory that the Dasyus—Dravadians inhabited the Panjab and the Ganges valley at the time of the so called Aryan invasion of India and overcome by the latter, they fled to South India and adopted it as their home cannot stand."

—Origin and spread of Tamils by V.P. Ramachandra Dikshitar, P. 14.

अर्थात् सत्य तो यह है कि (जातीयभेद की दृष्टि से) दस्यु आर्येतर नहीं थे। यह मत कि दस्यु और द्रविड़ लोग पंजाब और गङ्गा की घाटी में रहते थे और जब आर्यों ने आक्रमण किया तो वे आर्यों से पराजित होकर दक्षिण की ओर भाग गये और उसे अपना घर बना लिया—युक्तियुक्त नहीं है।

४३. वर्ण

जो गुण और कर्मों के योग से ग्रहण किया जाता है, वह 'वर्ण' शब्दार्थ से लिया जाता है।

व्याख्या—'वृक् वरणे' धातु से 'वर्ण' शब्द निष्पन्न होता है। 'वृणोति त्रियते वा स वर्णः' (उणादि० ३।१०)—जिसका स्वेच्छापूर्वक वरण=चुनाव किया जाए उसे वर्ण कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह अपने जीवन का लक्ष्य स्वयं निर्धारित करे—स्वयं अपना मार्ग चुने। इस स्वयं वरण के कारण ही भगवान् यास्क ने लिखा है—'वर्णो वृणीतेः'। ब्राह्मणादि वर्ण इसीलिए कहाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए स्वयं उसका निश्चय करता है और समाज भी प्रत्येक व्यक्ति को उसके गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार शास्त्रीय अथवा सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत अधिकार प्रदान करता है। इस विषय में यजुर्वेद (३१।१७) का यह मन्त्र प्रमाण है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्याश्च शूद्रोऽजायत ॥

इस मन्त्र में आलंकारिक रूप में मनुष्यसमाज के चारों वर्णों के कर्तव्यों का निरूपण किया है। समाज में ब्राह्मण मुख अथवा शिरस्थानीय है, क्षत्रिय बाहु-समान है, वैश्य जाँघों और शूद्र पैरों के समान है।

‘ब्रह्म हि ब्राह्मणः’—जो ब्रह्म (ईश्वर और वेद) का ज्ञाता है (ब्राह्मणं वेदेश्वरविदम्—यजुर्भाष्य ७।४६) और इस प्रकार जो विद्या व सत्यभाषणादि गुणों से युक्त है तथा श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्त है, वह ब्राह्मण कहाता है। जो बल, पराक्रम आदि गुणों से युक्त हेम्बर शरीर में भुजाओं के समान समाज की रक्षा करता है वह क्षत्रिय (क्षतात् त्रायते) कहाता है। बल-पराक्रम ही उसकी भुजाएँ हैं। अपने क्षत्रियोचित कर्तव्य का पालन करने से ही वह ‘राजन्यः’ अर्थात् यशस्वी (राजू दीसौ) होता है। उसे पराक्रम करने में ही आनन्द आता है (वीर्यं वा तस्य रसः)। इसी प्रकार जो खेती, व्यापार आदि के लिए ‘जाँघों’ के समान इतस्ततः भाग-दौड़ करने में समर्थ होने से सर्वत्र प्रवेश करता है (किं दूरं व्यवसायिनाम्) उसे वैश्य कहते हैं और जो बौद्धिक स्तर पर हीन होने से शारीरिक श्रम से सबकी सेवा करता है, वह शूद्र कहाता है। वेद ने चारों वर्णों के कर्तव्यों का निर्देश करते हुए स्पष्ट कहा है—

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्।

—यजुर्वेद ३०।५

अर्थात् वेदज्ञान प्राप्त करने तथा उसका प्रचार एवं प्रसार करने के लिए ब्राह्मण को, रक्षा के लिए क्षत्रिय को, प्राण-पोषण के लिए वैश्य को तथा विशेष परिश्रम के लिए शूद्र को जानो या उसके पास जाओ।

४४. वर्ण के भेद

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि हैं, वे ‘वर्ण’ कहाते हैं।

व्याख्या—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार भेद जन्म पर आधारित न होकर गुण-कर्म-स्वभाव पर आधारित हैं, यह सिद्धान्त सर्वशास्त्रसम्मत एवं तर्कप्रतिष्ठित है। इस विषय में ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश (समुल्लास ४) में लिखा है—जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण हों, उसे उस-उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं, क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे तो शूद्र हो जाएँगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि यदि हम उक्त चाल-चलन और विद्यायुक्त न होंगे

तो शूद्र होना पड़ेगा और इसी के कारण नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिए उत्साह बढ़ेगा।”

इसमें मनुस्मृति का प्रमाण है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।

क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद् वैश्यात्तथैव च॥

—मनु० १०।६५

जो शूद्रकुल में जन्म लेके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण-कर्म-स्वभाववाला हो तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो जाता है, वैसे ही जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कुल में उत्पन्न होकर शूद्र के समान गुण-कर्म-स्वभाववाला हो जाए तो वह शूद्र कहाता है, अर्थात् कोई किसी भी कुल में उत्पन्न हुआ हो, उसका वर्ण वही माना जाएगा जिसके सदृश उसका गुण-कर्म-स्वभाव होगा।

इसी विषय में आपस्तम्ब धर्मसूत्र का कहना है—

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।

—आप० २।५।१२।१०

धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से ऊपर वर्ण को प्राप्त होता है और अधर्माचरण से पूर्व अर्थात् उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचे-नीचेवाले वर्ण को प्राप्त होता है। जैसे पुरुष जिस-जिस वर्ण के योग्य होता है उसी में गिना जाता है, वैसे ही स्त्रियाँ भी जिस-जिस वर्ण के योग्य हों, उसी में गिनी जानी चाहिएँ।

भगवद्गीता के अन्तर्गत “चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म-विभागशः” (४।१३) इस श्लोक में भी वर्णव्यवस्था को गुण-कर्म-स्वभाव पर आधारित बताया है। डॉ० राधाकृष्णन् ने गीता के अपने अंग्रेजी भाष्य में इस श्लोक का अनुवाद करके अपनी टिप्पणी में कहा है—

The emphasis is on 'guna' (aptitude) and 'karma' (function) and 'svabhava' (temperament) and not on 'jati' (birth). The varna or the order to which we belong is independent of sex, birth or breeding. A class determined by temperament and vocation is not a caste determined by birth or heredity.

अर्थात् यहाँ मनुष्य के गुण-कर्म-स्वभाव पर बल दिया गया है, न कि जन्म या जाति पर। हमारे वर्ण का लिंग, जन्म, या पालन-पोषण से कोई सम्बन्ध नहीं होता। गुण-कर्म पर आधारित व्यवस्था का जन्म या पैतृक परम्परा के आधार पर निर्धारण नहीं किया जा सकता।

४५. आश्रम

जिनमें अत्यन्त परिश्रम करके उत्तम गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ काम किये जाएँ, उनको आश्रम कहते हैं।

व्याख्या—‘श्रम’ शब्द से ‘आइ’ उपसर्गपूर्वक ‘आश्रम’ शब्द निष्पन्न होता है। उपसर्ग किसी भी शब्द के साथ जुड़कर उसके सामान्य अर्थ में विलक्षणता या विशेषता पैदा करके उसके महत्त्व को बढ़ा देता है। ‘प्रयत्न’ जीवात्मा का स्वाभाविक गुण है, इसलिए उसके निष्क्रिय रहने की कल्पना पलभर के लिए भी नहीं की जा सकती। जब दिनभर के परिश्रम से थककर स्थूलशरीर चारपाई पर लेटकर निश्चेष्ट हो जाता है, तब भी उसका सूक्ष्म शरीर निरन्तर कार्यरत रहता है। ‘आइ’ मर्यादा और अभिविधि का सूचक है। इस प्रकार आश्रम का अर्थ हुआ—मर्यादा में रहकर विधिपूर्वक श्रम करना। ‘शतायुर्वै पुरुषः’—मनुष्य की सामान्य आयु सौ वर्ष मानी जाती है। शतवर्षीय योजना को कार्यरूप देने के लिए ऋषियों ने चार आश्रमों की कल्पना की, इन्हें जीवन-यात्रा के चार पड़ाव भी कह सकते हैं। श्रम का रूप भले ही बदलता जाए, पर मृत्युपर्यन्त कड़ा परिश्रम अपेक्षित है—“कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः” (यजुः० ४०।२)।

कठोर परिश्रम में ही ‘आश्रम’ की सार्थकता है। इसीलिए ग्रन्थकार ने यहाँ ‘अत्यन्त परिश्रम करके’ शब्दों का समावेश किया है।

४६. आश्रम के भेद

जो सद्विद्यादि शुभ गुणों का ग्रहण तथा जितेन्द्रियता से आत्मा और शरीर के बल को बढ़ाने के लिए ‘ब्रह्मचर्य’, जो सन्तानोत्पत्ति और विद्यादि सब व्यवहारों को सिद्ध करने के लिए ‘गृहस्थाश्रम’, जो विचार के लिए ‘वानप्रस्थ’, और जो सर्वोपकार करने के लिए ‘संन्यासाश्रम’ होता है, वे चार ‘आश्रम’ कहाते हैं।

व्याख्या—इनमें प्रथम ‘ब्रह्मचर्याश्रम’ है जिसकी अवधि २५ से ४८ वर्षपर्यन्त है। ग्रन्थकार के अनुसार ‘यह सब आश्रमों का मूल है, क्योंकि इसके सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिड़ने से नष्ट हो जाते हैं” (ऋ० भा० भूमिका, वर्णाश्रमविषय)। ‘ब्रह्मचारी’ शब्द के यौगिक और रूढ़ि दो अर्थ हैं। यौगिक अर्थ अधिक व्याप्त होता है। ‘ब्रह्मचारी’ शब्द का यौगिक अर्थ है—‘ब्रह्मणि चरतीति ब्रह्मचारी’ अर्थात् ब्रह्म में

विचरण करनेवाले को ब्रह्मचारी कहते हैं। 'ब्रह्म' शब्द ईश्वर और वेद का वाचक है। इस प्रकार जो ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का चिन्तन करता हुआ वेद (विद्या) की प्राप्ति में सर्वात्मना समर्पित रहता है, उसकी ब्रह्मचारी संज्ञा है। इस शब्द का रूढ़ अर्थ अधिक प्रचलित है। इस अर्थ में वीर्य को नष्ट न होने देना अर्थात् पूर्णतः सदाचार का जीवन व्यतीत करना अभिप्रेत है। बालक को आध्यात्मिकता के रंग में रंगकर विद्या प्रदान करना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है जो ब्रह्मचारी शब्द के यौगिक अर्थ में निहित है और बालक की शारीरिक शक्ति की रक्षा और वृद्धि करते हुए उसका सर्वांगीण विकास करना शिक्षा का दूसरा उद्देश्य है जो ब्रह्मचारी शब्द के रूढ़ि अर्थ में निहित है।

मनुस्मृति (६।१०) के अनुसार गृहस्थाश्रम को समुद्र के समान माना गया है, ग्रन्थकार ने स्वरचित ऋ० भा० भूमिका (वर्णाश्रमविषय) में गृहस्थाश्रम की उत्तरसमुद्र से तुलना करते हुए ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्वसमुद्र का नाम दिया है। अध्ययन समाप्ति के अनन्तर धर्म-जागृति करता हुआ ब्रह्मचारी अपने उपदेशों से उत्साह उत्पन्न करता है। इस प्रकार कार्य करता हुआ वह यथासमय उत्तरसमुद्र में प्रवेश करता है। जहाँ गृहस्थाश्रम में सब आश्रय पाते हैं, वहाँ ब्रह्मचर्याश्रम सबका मूल या उद्गम स्थान है। अध्यापक, उपदेशक, डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, व्यापारी, सैनिक, मन्त्री, विधायक, सांसद आदि सभी ब्रह्मचर्याश्रम में ही तैयार होते हैं और वे ही गृहस्थाश्रम में होते हुए वानप्रस्थ और संन्यासी बनते हैं। सारे समाज की नींव ब्रह्मचर्याश्रम है। यह नींव दृढ़ नहीं होगी तो सारा समाज लड़खड़ा जाएगा। इस दृष्टि से इस आश्रम का महत्त्व कम नहीं है। सम्भवतः इसीलिए ब्रह्मचारी को सामने से आता देखकर राजा भी उसके लिए रास्ता छोड़ देता था।

गृहस्थाश्रम—शिक्षा की समाप्ति पर समावर्तन के अवसर पर आचार्य तैत्तिरीय उपनिषत् में निर्दिष्ट दीक्षान्तभाषण के माध्यम से स्नातक को सम्बोधित करते हुए अन्य बातों के साथ यह भी कहता था—
 “प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः”, अर्थात् वंशपरम्परा को मत काट देना। माता-पिता ने हमें जन्म दिया और हमारा पालन-पोषण किया। इसलिए हम उनके आभारी हैं। इस परम्परा को बनाये रखने के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके अपने सामर्थ्यानुसार पितृ-ऋण को चुकाना हमारा धार्मिक कर्तव्य है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी शास्त्र की मर्यादाओं का पालन करते हुए अपने-कर्तव्यों में प्रवृत्त रहते हैं। तब उनके योग-

क्षेम की चिन्ता करना गृहस्थाश्रमियों का ही दायित्व है। इसीलिए भगवान् मनु ने कहा है—

यथा नदीनदा सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।

तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥

वानप्रस्थ एवं संन्यास—कुछ लोगों की मान्यता है कि वानप्रस्थ तथा संन्यास दोनों आश्रम अवैदिक हैं, क्योंकि वेद में इनका विधान कहीं नहीं है। वस्तुतः वेद में सब विद्याओं का मूल है, विस्तार नहीं। उसी मूलरूपी वेद के आधार पर आगे ऋषि-मुनियों ने भिन्न-भिन्न विद्याओं का उपबृंहण=विस्तार करने के लिए ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदांग, उपांग, गृह्यसूत्र, स्मृति आदि अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। वेदाविरुद्ध ऐसे सब ग्रन्थ प्रमाण-कोटि में आते हैं। इस विषय में सम्भावित शंकाओं का समाधान करने के लिए ऋषि दयानन्द ने स्वरचित संस्कारविधि के आरम्भ में लिख दिया—

वेदादिशास्त्रसिद्धान्तमाध्याय परमादरात्।

आर्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये॥

अर्थात् वेदादिशास्त्रों का परमादरभाव से चिन्तन करके आर्यों के इतिहासानुकूल शरीर और आत्मा की शुद्धि के लिए यह ग्रन्थ रचा है।

इस श्लोक में ग्रन्थकार ने 'वेदादि' में 'आदि' शब्द लगाकर स्पष्ट कर दिया है कि वेदों के साथ-साथ अन्य वेदानुकूल आर्षग्रन्थों के आधार पर भी इस ग्रन्थ (संस्कारविधि) का निर्माण किया है। वानप्रस्थ के विषय में शतपथब्राह्मण काण्ड १४ में लिखा है—“ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेद्, गृही भूत्वा वनी भवेद्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्”, परन्तु जाबालोपनिषद् खण्ड ४ में यह वचन इस प्रकार मिलता है—“स होवाच याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद्।” जाबाल शाखा याज्ञवल्क्यप्रोक्त वाजसेनय संहिता (शुक्ल यजुर्वेद) की है।

आर्षग्रन्थों में मनुस्मृति का प्रामाण्य सर्वोपरि एवं सर्ववादिसम्मत है। उसके अनुसार—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।

अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥

पुत्रेषु भार्या निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा।

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः॥

—मनु० ६

अर्थात् जब गृहस्थ देखे कि अपनी देह की खाल ढीली और केश श्वेत हो गये हैं और पुत्र-का-पुत्र हो गया है तो वन में आश्रय ले। वन में जाते समय पत्नी को पुत्रों के पास छोड़ दे अथवा साथ ले-जाए। इस प्रकार आयु का तीसरा भाग वन में व्यतीत करे।

मनुजी की घोषणा है—‘सर्वज्ञानमयो हि सः’ तथा ‘सर्व वेदात्प्रसिध्यति’। मनु का वचन अवैदिक कैसे हो सकता है? वेद में भी वानप्रस्थ व संन्यास आश्रमों का उल्लेख मिलता है, परन्तु वहाँ वानप्रस्थ के पर्याय के रूप में ‘मुनि’ शब्द का प्रयोग हुआ है। तद्यथा—

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।

वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यदेवासो अविक्षतः॥

वातस्याश्वो वायोः सखायो देवेषितो मुनिः।

उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः॥

—ऋ० १०।१३६।२, ५

उपर्युक्त द्वितीय मन्त्र में आये ‘पूर्वः’ तथा ‘अपरः’ पदों से क्रमशः वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम अभिप्रेत हैं। वेद में ‘मुनि’ शब्द वानप्रस्थ का वाचक है, यह वानप्रस्थ का वर्णन करनेवाले मनुस्मृति के छठे अध्याय में प्रयुक्त मुनि शब्द से स्पष्टतः सिद्ध है—‘मुन्यनैः स्वयमाहूतैः’ (६।११); ‘मुनिर्मूलफलाशनः’ (६।२५)। निश्चय ही वेद में ‘मुनि’ शब्द से ‘वनी’ का बोध होता है।

जिस प्रकार वेद में मुनि शब्द वानप्रस्थ का वाचक है, उसी प्रकार ‘यति’ शब्द से संन्यासी का ग्रहण होता है। ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश (समुल्लास ५) में लिखा है—‘यतयः’ (ऋ० ८।६।१८); ‘ब्राह्मणासः’ (अनुपलब्धमूल); ‘विजानतः’ (यजुः० ४०।७) पदों से संन्यास का ग्रहण होता है। मुख्यरूप से ‘यति’ शब्द ही संन्यासी का वाचक है—‘संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः’ (मुण्डक० ३।२।६), ‘एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम्’ (मनु० ६।८६); ‘भैक्ष्ये प्रसक्तो हि यति-र्विषयेष्वपि सज्जति’ (मनु० ६।५५); ‘भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्’ (मनु० ६।५६); ‘ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा’।

निम्नलिखित वेदमन्त्रों में भी संन्यास के वाचक ‘यति’ शब्द का उल्लेख मिलता है—

यदेवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।

अत्रा समुद्र आ गूळहमा सूर्यमजभर्तन॥

—ऋ० १०।७२।७

य इन्द्र यतयस्त्वा मृगवो ये च तुष्टुवुः । ममेदुग्र श्रुधी हवम् ।

—ऋ० ८।६।१८

अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः ॥ —ऋ० १।१५८।६

वैश्वानराय यतये मतीनाम् । —ऋ० ७।१३।१

येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते । —ऋ० ८।३।९

क्योंकि संन्यासी का मुख्य कार्य सत्योपदेश और वेदादि सत्य शास्त्रों का विचार-प्रचार करना है, इसलिए संन्यास ग्रहण करने का अधिकार ब्रह्मण अर्थात् पूर्ण विद्वान्, धार्मिक एवं परोपकारप्रिय मनुष्य को ही है। इस आश्रम के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश में विस्तार से लिखा है। उसके कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण अंश यहाँ उद्धृत हैं—

“वर्तमान में पुण्यस्वरूप और शरीर छोड़े पश्चात् मुक्तिरूप अक्षय आनन्द का देनेवाला संन्यास धर्म है। जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है, वैसे ही आश्रमों में संन्यास-आश्रम की आवश्यकता है, क्योंकि इसके बिना विद्या, धर्म कुछ भी नहीं बढ़ सकता।..... पक्षपात छोड़कर वर्तना दूसरे आश्रमों के लिए दुष्कर है। जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का उपकार करता है, वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता, क्योंकि संन्यासी को सत्यविद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है, उतना अन्य किसी आश्रमी को नहीं मिल सकता, परन्तु ब्रह्मचर्य से संन्यासी होकर जगत् को सत्य शिक्षा करके जितनी उन्नति कर सकता है, उतनी गृहस्थ वा वानप्रस्थ आश्रम करके नहीं कर सकता”। “जब ब्राह्मण वेदविरुद्ध आचरण करें तब उनका नियन्ता संन्यासी ही हो सकता है।”

संन्यास आश्रम भी ‘आश्रम’ नामवाला है, फलतः उसे अपनाने-वाले के लिए यथाशक्ति अधिक-से-अधिक श्रम करना आवश्यक है। “जब गृहस्थों से अन्न-वस्त्रादि लेते हैं और उनका प्रत्युपकार नहीं करते, तो क्या वे महापापी नहीं हैं? इसलिए जो “अविद्यारूप संसार से माथापच्ची क्यों करना आदि लिखते और कहते हैं, वे मिथ्यारूप और पाप के बढ़ानेहारे पापी हैं।”

४७. यज्ञ

जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त, वा जो शिल्प-व्यवहार और जो पदार्थविज्ञान है, जोकि जगत् के उपकार

के लिए किया जाता है, उसको 'यज्ञ' कहते हैं।

व्याख्या—प्रायः लोग अग्निहोत्र को ही यज्ञ समझते हैं, पर पञ्चमहायज्ञों के नाम से प्रसिद्ध पाँच यज्ञों में से चार में भौतिक अग्नि का प्रयोग नहीं होता। स्वरचित 'पञ्चमहायज्ञविधि' के उपक्रम में ऋषि लिखते हैं—“यह पुस्तक नित्यकर्मविधि का है। इसमें 'पञ्चमहायज्ञ' का विधान है, जिनके ये नाम हैं—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ तथा भूतयज्ञ।” नृयज्ञ का अपर नाम अतिथियज्ञ तथा भूतयज्ञ का बलिवैश्वदेवयज्ञ है। आगे लिखते हैं—“एकान्त देश में आत्मा, मन और शरीर को शुद्ध और शान्त करके उस-उस कर्म में चित्त लगाके तत्पर होना चाहिए। इन नित्य कर्मों के फल ये हैं—ज्ञान-प्राप्ति से आत्मा की उन्नति और आरोग्यता होने से शरीर के सुख से व्यवहार और परमार्थ-कार्यों की सिद्धि होना। उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये सिद्ध होते हैं।”

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'यज्ञ' मात्र अग्निहोत्र का नाम नहीं है। उसके बहुविध आयाम में व्यक्ति और समाज से सम्बन्धित सभी विषयों—ऐहिक और पारलौकिक का समावेश है। ब्रह्मयज्ञ में आध्यात्मिक अग्नि प्रज्वलित करनी होती है। देवयज्ञ अथवा अग्निहोत्र जीवन को यज्ञमय बनाने का प्रतीक है। इसके द्वारा हम अपनी प्रिय वस्तुओं का होम करके परोपकार की भावना को मूर्तरूप देकर उसका विकास करते हैं। अश्वमेधयज्ञ उस पवित्र भावना की पराकाष्ठा है जिसके द्वारा हम 'इदं राष्ट्राय, इदत्र मम' (राष्ट्रं वा अश्वमेधः—शतपथ) का उद्घोष करके अपना सर्वस्व राष्ट्र को समर्पित करते हैं। यजुर्वेद १।१ के सन्दर्भ में शतपथब्राह्मण में कहा गया है—'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (१।७।१।५) सम्भवतः इस प्रकार के स्थलों पर 'यज्ञ' शब्द का रूढ़ अर्थ लेकर परवर्ती काल में अग्निहोत्र को ही वेदों का एकमात्र प्रतिपाद्य मानकर कहा जाने लगा—'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः'। सायणाचार्य का 'सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डपराः' वेद के सर्वज्ञानमयत्व (सर्वज्ञानमयो हि सः—मनु०) का प्रतिपेधक है।

वस्तुतः श्रेष्ठतम कर्म (प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे—यजुः० १।१) वह है जो स्वार्थ न होकर परार्थ हो। भोजन-छादनादि से तो उसके कर्त्ता को ही सुख होता है—कुछ सीमा तक वह परार्थ भी हो सकता है, किन्तु सुगन्धयुक्त, मिष्टगुणयुक्त, पुष्टिकारक तथा रोगनाशक पदार्थों से जो यज्ञ होता है, वह अग्नि द्वारा प्रसृत होकर (अग्निर्वै देवानां वाहनम्)

प्राणिमात्र के लिए सुखदायक होता है। मनुस्मृति में कहा है— 'देवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्' अर्थात् देवयज्ञ (होम) में प्रवृत्त मनुष्य समस्त चराचर जगत् का पालन-पोषण करता है। मीमांसा (४।१।३) में 'परार्थत्वात्' तथा ऐतरेयब्राह्मण (१।२) में 'जनतायै' शब्दों से यज्ञ का परोपकारार्थ होना स्पष्ट है। इसमें अपने-पराये का भेद करना सम्भव नहीं। चाहकर भी कोई होमजन्य सुगन्धि को अपने शत्रु-पड़ोसी के घर में जाने से नहीं रोक सकता।

किसी भी शब्द का यौगिक अर्थ बड़ा व्याप्त होता है। यौगिक अर्थ के धातुज होने से उससे निष्पन्न शब्द भी अनेकार्थक होता है। 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' धातु से निष्पन्न यज्ञ अपने भीतर कितने ही अर्थों को समेटे हुए है। विभिन्न उपसर्गों के लग जाने से उसके अर्थों में विलक्षणता आ जाती है। वैदिक वाङ्मय में उसके व्युत्पत्त्यर्थों की भी भरमार है। तद्यथा—

अध्वरो वै यज्ञः (शतपथ० १।२।४।५), यज्ञो वै नमः (यजुः० १३।८), यज्ञो वै भुज्युः (यजुः० १८।४२), यज्ञो वै भगः (यजुः० ११।६), यज्ञो वै ऋतस्य योनिः, यज्ञो वै महिमा (शत० ६।३।१।१८), यज्ञो वै स्वः (यजुः० १।११), यज्ञो वै सुम्ना (यजुः० १२।६७), यज्ञो वै विशः (शत० ८।७।३), यज्ञो वै भुवनस्य नाभिः (तै० ब्रा० ६।४।५), विज्ञानं यज्ञं तनुते (तै० उ० २।५।१)।

ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत 'पूर्वेषामपि गुरुः' परमेश्वर की आराधना व आर्षग्रन्थों का अध्ययन तथा विद्वानों का आदर-सत्कार व सेवा 'देवपूजा' है। सृष्टि में उपलब्ध पदार्थों के संश्लेषण-विश्लेषण तथा संयोग-वियोग द्वारा उनके गुण-दोषों का अनुसन्धान करके उनसे उपयोग लेना संगतिकरण है। मनुष्य समाज से कुछ लेता भी है और उसे कुछ देता भी है—जो लेता कम है, देता अधिक है वह देवता, जो जितना लेता है उतना देता है, वह मनुष्य और जो लेता अधिक है, देता कम है वह राक्षस कहाता है। यह आदान-प्रदान 'दान' शब्द के अन्तर्गत है।

यज्ञ के महत्त्व को देखते हुए ऋषि ने उसके विषय में अनेकत्र विस्तार से लिखा है। यहाँ हम निदर्शनार्थ कतिपय उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

अग्निहोत्र से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होना अर्थात् शुद्ध वायु का श्वास, स्पर्श, खान-पान से आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम, बढ़कर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का

अनुष्ठान पूरा होना, इसे 'देवयज्ञ' कहते हैं।—सत्यार्थप्रकाश समु० ४

जब तक इस होम करने का प्रचार रहा, तब तक आर्यावर्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था। अब भी प्रचार हो तो वैसा ही हो जाए।—तदेव समु० ३

अग्निहोत्रादि से वायु, वृष्टि, जल, की शुद्धि द्वारा आरोग्यता का होना, उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है, उसको न जानकर वेद, ईश्वर और वेदोक्त धर्म की निन्दा करना धूर्तों का काम है।—तदेव समु० १२

जो-जो केसर, कस्तूरी आदि सुगन्धि, घृत, दुग्धादि पुष्ट, गुड़-शर्करा आदि मिष्ट, बुद्धि, बल तथा धैर्यवर्धक और रोगनाशक पदार्थ हैं, उनका होम करने से पवन और वर्षा-जल की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थों की अत्यन्त उत्तमता होती है। उसी से सब जीवों को परम सुख होता है, इस कारण अग्निहोत्र करके मनुष्यों को उस उपकार से अत्यन्त सुख का लाभ होता है और ईश्वर उनपर अनुग्रह करता है।

सत्यार्थप्रकाश के अन्त में स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश (२८) में लिखा है—

यज्ञ उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार, यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जोकि पदार्थविद्या, उससे उपयोग और विद्यादि शुभ गुणों का दान, अग्निहोत्रादि, जिनमें वायु, वृष्टि, जल, ओषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुँचाना है, उसको उत्तम समझता हूँ।

वेदों में यज्ञ के पर्याय अथवा विशेषण के रूप में जिस शब्द का प्रयोग हुआ है, वह 'अध्वर' है। अध्वर का अर्थ है—हिंसारहित अर्थात् ऐसा कर्म जिसमें किसी प्रकार की हिंसा नहीं हो सकती। चारों वेदों में यह शब्द दो-चार बार नहीं, सैकड़ों बार आया है। यजुर्वेद को मुख्यतः यज्ञपरक माना जाता है। उसके प्रथम मन्त्र का अन्तिम वाक्य है—'पशून् पाहि' पशुओं की रक्षा करो। उसी मन्त्र में गौ का वाचक शब्द है—'अध्व्या'—हन्तुमयोग्या अर्थात् जिसे मारा नहीं जाना चाहिए। अन्यत्र भी अनेक स्थलों में इस प्रकार के वचन मिलते हैं। वैदिक यज्ञ सर्वथा हिंसारहित होते थे, अतः उनमें पशुबलि आदि की कल्पना नहीं की जा सकती।

४८. कर्म

जो मन, इन्द्रिय और शरीर में जीव चेष्टाविशेष करता है, वह कर्म कहा जाता है। वह शुभ-अशुभ और मिश्र भेद

से तीन प्रकार का है।

व्याख्या—शरीर को चेष्टा, इन्द्रिय तथा अर्थों का आश्रय कहा जाता है। नैसर्गिक क्रिया (श्वास-प्रश्वास, निमेषोन्मेष आदि) से भिन्न 'चेष्टाविशेष' उस क्रिया का नाम है जो ज्ञान, इच्छा व प्रयत्नपूर्वक होती है। 'कर्म' संज्ञा उसी की है। इन्द्रियों की भी अपने विषयों में प्रवृत्ति शरीर के बिना सम्भव नहीं है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीट, कृमि आदि के भी स्वतन्त्र शरीर होते हैं, क्योंकि शरीर के बिना कोई जीव भोग को प्राप्त नहीं हो सकता। 'अर्थ' पद का तात्पर्य यहाँ सुख-दुःख आदि का उपभोग है। इन्द्रिय और विषयों के सन्निकर्ष से प्राप्त सुख-दुःख आदि का अनुभव जिस आयतन में होता है, वह शरीर है, न्यायदर्शन में निर्दिष्ट लिंगों में एक प्रयत्न भी है, जो कर्म, चेष्टा, या पुरुषार्थ का पर्याय है। शरीर में कर्मेन्द्रिय का होना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि कर्म के बिना आत्मा की सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। जब तक प्रकृत शरीर है, तब तक कर्म से छुटकारा नहीं मिल सकता—

“न कर्मरहितं ज्ञानं न ज्ञानरहितं कर्म” (अभिनवगुप्त)।

कार्लाइल के शब्दों में 'What is this universe, but an indefinite conjugation of the verb 'to be'.—यह संसार 'कृ' धातु के विविध रूपों के सिवा क्या है? इसलिए अनुगीता में कहा है—“नैष्कर्म्यं न च लोकेऽस्मिन् मुहूर्त्तमपि लभ्यते” (अनु० २।७)—लोक में पलभर के लिए भी कर्म नहीं छूटते। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) ने लिखा है—

The eye cannot choose but see,
We cannot bid the ear be still,
Our bodies feel wherever they be,
Against or with our will.

आँखें देखे बिना नहीं रह सकती, कानों को हम सुनने से नहीं रोक सकते, हम चाहें या न चाहें, हमारे शरीर चाहे कहीं भी हों, अनुभव किये बिना नहीं रह सकते।

जब स्थूलशरीर निश्चेष्ट हो जाता है और कर्मेन्द्रियाँ अपना काम छोड़ बैठती हैं तो भी ज्ञानेन्द्रियाँ अपना काम करती रहती हैं। जब स्वप्नावस्था में समस्त इन्द्रियाँ शिथिल होकर शान्त हो जाती हैं तो मन को मनमानी करने का अवसर मिल जाता है और जो काम वह जाग्रत अवस्था में नहीं कर सकता था उन्हें स्वप्न में कर डालता है। सर्वथा

निष्क्रिय होने का अर्थ है—मृत्यु। इसलिए गीता में कहा है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

वर्तते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ —३।५

मनुष्य कुछ-न-कुछ किये बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता। प्रकृति के गुणों (सत्त्व-रजस्-तमस्) से विवश होकर सबको कर्म करना ही पड़ता है। वहीं (गीता ३।८) में यह भी कहा है—“शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः”—कर्म के बिना तो शरीर का निर्वाह भी नहीं हो सकता—देखना, सुनना, चलना, उठना-बैठना, खाना-पीना, सोना-जागना—सभी तो कर्म हैं। इस प्रकार कर्म करना तो अनिवार्य है—जीते जी इसका कोई विकल्प नहीं है। यह तुम्हारी इच्छा है कि शुभ कर्म करो या अशुभ। जिस कार्य को करते समय तुम्हें भय-शंका और लज्जा अनुभव हो उसे अशुभ जानो। दुरित को दूर भगा दो, भद्र को अपना लो।

झूठ, बेईमानी, छल-कपट से धन कमाना और उससे मन्दिर, धर्मशाला आदि बनवाना मिश्र कर्म है। “कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन”—मनुष्य का अधिकार कर्म करने तक सीमित है, फल पाना उसके अधिकार में नहीं है। इसलिए उसे कर्म करते समय शुभाशुभ का विचार करना चाहिए, फल में आसक्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि वह उसके अधिकारक्षेत्र से बाहर है।

कर्मों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जाता है, जैसे—शुभ-अशुभ, मानसिक-वाचिक-कायिक, सात्त्विक-राजस-तामस आदि, किन्तु कर्म-विपाक की दृष्टि से जो तीन प्रकार के कर्म माने जाते हैं, वे हैं—क्रियमाण, सञ्चित और प्रारब्ध।

४९. क्रियमाण

जो वर्तमान में किया जाता है, सो ‘क्रियमाण’ कर्म कहाता है।

व्याख्या—‘कालस्य त्वरिता गतिः—काल इतनी तेज़ी से दौड़ता है कि उसे पकड़कर यह कहना कि यह ‘वर्तमान’ है, सम्भव नहीं, क्योंकि ‘यह’ कहते ही ‘वह’ बन जाता है और ‘है’ कहते ही वह ‘था’ में बदल जाता है, अर्थात् ‘वर्तमान’ कहते ही वह अतीत या भूत हो जाता है। वर्तमान इतना क्षणिक होता है कि उसे पकड़ा नहीं जा सकता। इसलिए उसकी कल्पना यह कहकर की जा सकती है

कि जो 'भूत' और 'भविष्यत्' के 'बीच' में होता है, वह वर्तमान कहाता है। इस दृष्टि से 'आसन्न भूत' और 'आसन्न भविष्यत्' को भी 'वर्तमान' की कोटि में रक्खा जा सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से वर्तमान जीवनकाल को 'क्रियमाण' कर्मों की अवधि माना जा सकता है। क्रियमाण कर्मों में कुछ तो ऐसे होते हैं जो प्रारब्ध कर्मों के भोगने में सहभागी हैं। उनका फल प्रारब्ध कर्मों के साथ ही भोग लिया जाता है और कुछ ऐसे होते हैं जिनका फल उस जीवनकाल में नहीं भोगा जाता। वे संचित कर्मों की राशि में जमा हो जाते हैं। कृतकर्म का फलभोग अवश्यम्भावी है। इस दृष्टि से यदि 'क्रियमाण' को धातुसाधित वर्तमान न मानकर 'वर्तमान=सामीप्ये वर्तमानवद्वा' (अष्टा० ३।३।१३१) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार भविष्यवाचक समझें तो उसका अर्थ 'जो आगे शीघ्र ही भोगने हैं' किया जा सकता है। तब 'क्रियमाण' का अर्थ 'अनारब्ध' हो जाएगा, किन्तु व्यवहार में उसका प्रचलित अर्थ ही किया जाता है। इसलिए क्रियमाण के प्रचलित रूढ़ार्थ को छोड़ना उचित नहीं होगा।

५०. सञ्चित

जो क्रियमाण का संस्कार ज्ञान में जमा होता है, उसको 'सञ्चित संस्कार' कहते हैं।

व्याख्या—किसी मनुष्य द्वारा जो कर्म किये जाते हैं—चाहे वे इस जन्म के हों, चाहे पूर्वजन्म या जन्मों के—वे सब 'संचित' या 'एकत्रित' कर्म कहाते हैं। इन्हीं को 'अदृष्ट' और मीमांसकों की भाषा में 'अपूर्व' कहते हैं। इन नामों के पड़ने का कारण यह है कि जिस समय वह किया जाता है, उसी समय के लिए वह दृश्य रहता है। उस समय के बीतने पर स्वभावतः वह शेष नहीं रहता, केवल उसके सूक्ष्म, अतएव अदृश्य अथवा अपूर्व और विलक्षण संस्कार ही शेष रह जाते हैं—जैसे एक-एक रुपये के सौ नोटों की जगह सौ रुपये का एक नोट।

५१. प्रारब्ध

जो पूर्व किये हुए कर्मों के सुख-दुःखरूप फल का भोग किया जाता है, उसको 'प्रारब्ध' कहते हैं।

व्याख्या—सब कर्मों का फल एक साथ नहीं भोगा जा सकता, क्योंकि इनके परिणामों में कुछ परस्पर विरोधी अर्थात् भले और बुरे

दोनों प्रकार के फल देनेवाले कर्म भी हो सकते हैं। इसलिए उन्हें एक के बाद एक भोगना पड़ता है। इस प्रकार संचित कर्मों के दो भेद हो जाते हैं—संचित में से जिनका भोगना शुरू हो जाता है, उन्हें 'प्रारब्ध' कर्म कहते हैं। व्यवहार में संचित के अर्थ में ही प्रायः 'प्रारब्ध' का प्रयोग किया जाता है, किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से समस्त भूतपूर्व कर्मों के जितने भाग के कर्मों का फलोपभोग आरम्भ हो गया है, उतना ही 'प्रारब्ध' है। जिन पाप-पुण्य कर्मों का फल वर्तमान जीवन में नहीं भोगा जाना, अथवा सञ्चित में से जिन कर्मों का फल भोगना अभी शुरू नहीं हुआ है, अथवा सञ्चित में से प्रारब्ध को घटाकर जो कर्म शेष रह जाते हैं, वे अनारब्ध कर्म कहते हैं।

फलोपभोग के बिना कर्मों का क्षय नहीं होता। जब एक बार बाण छूट जाता है तब वह लौटकर नहीं आता, अपने लक्ष्य पर पहुँचकर ही शान्त होता है। महाभारत में आया है—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥

किञ्चित् भिन्न शब्दों में यही बात देवीभागवतपुराण में भी लिखी है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कालेनोपादितं च यत्।

शुभं वाप्यशुभं वापि दैवं कोऽतिक्रमेत् पुनः॥

कर्मफल की व्यवस्था करना—उसे प्रत्येक जीव के लिए निश्चित करना सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् एवं न्यायकारी परमात्मा का काम है। ऐसे विवेकी, निष्पक्ष तथा सर्वोच्च न्यायाधीश के निर्णय को बदलने का सामर्थ्य किसमें हो सकता है? जल्दी मिले या देर में—इस जन्म में या जन्मान्तर में—फल मिले बिना नहीं रह सकता। जब ब्रह्मा का दिन समाप्त होने पर सृष्टि की प्रलय होती है, तब भी अभुक्त कर्म बीजरूप में बने रहते हैं। जब प्रलयकाल की समाप्ति पर फिर नये सिर से सृष्टि-रचना होती है, तब उसी कर्मबीज (संस्कार) से फिर अंकुर फूटने लगते हैं। महाभारत का वचन है—

येषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रपेदिरे।

तान्येव प्रतिपद्यन्ते सज्यमानाः पुनः पुनः॥

अर्थात् पूर्व सृष्टि में जिस-जिस व्यक्ति ने जो-जो कर्म किये हुए हैं, वे ही कर्म उसे बार-बार यथापूर्व प्राप्त होते रहते हैं। जब अभुक्त

कर्म इतनी दूर तक पीछा करते हैं, तो इसी जन्म में किये पापों से बिना भोगे निवृत्ति पा लेना कैसे सम्भव है? शुद्ध मन तथा संकल्प से किये गये पश्चात्ताप तथा प्रार्थना भविष्य में दुष्कर्मों के न किये जाने में तो सहायक हो सकते हैं, किन्तु इस कारण पूर्वकृत दुष्कर्मों के फल से नहीं बचा जा सकता।

सामान्यतः मनुष्य दण्ड के भय से अपराध करने से डरते हैं। यदि यह विश्वास हो जाए कि अपराध करने पर पकड़े नहीं जाएंगे और पकड़े भी गये तो कुछ ले-देकर या सिफारिश के बल पर छूट जाएंगे तो अधिसंख्य लोग पापों के अभ्यस्त हो जाएंगे।

५२. अनादि पदार्थ

जो ईश्वर, जीव और सब जगत् का कारण (प्रकृति) है—ये तीन 'स्वरूप से अनादि' हैं।

व्याख्या—ईश्वर, जीव और प्रकृति—ये तीनों अनादि-अनुत्पन्न हैं। प्रधान, अव्यक्त, स्वधा, तमस्, माया, वृक्ष, हिरण्य, अजा तथा अदिति—ये सब प्रकृति के पर्याय हैं। जो अनादि-अनुत्पन्न हैं, वे अनिवार्यः अनन्त हैं और जो अनादि-अनन्त हैं, वे नित्य हैं। नित्य होने से वे अपनी सत्ता के लिए किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखते—'सदकारणवन्नित्यम्' (वैशेषिक ४।१।१)। ईश्वर की सत्ता सर्वसम्मत है। नवीन वेदान्ती जीव तथा प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं करते। उनका यह मत सर्वथा अवैदिक है। सृष्टि के सम्बन्ध में ऋग्वेद का नासदीय सूक्त (१०।१२९) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सर्ग से पूर्व प्रलयावस्था में भी ईश्वर के साथ विद्यमान जिन दो वस्तुओं का निर्देश सूक्त में स्पष्ट रूप में उपलब्ध है, वे हैं 'स्वधा' तथा 'रेतोधाः'। 'स्वधा' शब्द प्रकृति का पर्याय है। 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' से स्पष्ट है कि प्रलयावस्था में भी ईश्वर अकेला नहीं था, अपितु स्वधा=प्रकृति के साथ था। 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'—सर्ग से पूर्व 'हिरण्यगर्भ' था। 'हिरण्यगर्भ' ईश्वर और प्रकृति के लिए प्रयुक्त संयुक्तपद है, जिसका अर्थ है हिरण्य= प्रकृति को गर्भ में धारण करनेवाला, प्रलयकाल में प्रकृति अव्यक्त अवस्था में परमात्मा के गर्भ में समाई रहती है। सर्गकाल में व्यक्त अथवा व्याकृत हो जाती है। सूक्त में आये 'रेतोधाः'=रेतस् को धारण करनेवाले जीव भी सर्ग से पूर्व परमात्मा के साथ विद्यमान थे। इस प्रकार नासदीय सूक्त में सृष्टि से पूर्व ईश्वर, जीव और प्रकृति के होने का स्पष्ट कथन है। सृष्टि के आदि में थे तो अन्त में भी होंगे,

क्योंकि 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (गीता) ।

इन तीन पदार्थों के अनादि होने में दूसरा सर्वाधिक प्रसिद्ध मन्त्र यह है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति ॥

—ऋग्वेद १।१६४।२०

इस मन्त्र में स्पष्टरूप से वृक्ष के रूप में प्रकृति का, पाप-पुण्य के फलस्वरूप पदार्थों का उपभोग करनेवाले जीव का और केवल साक्षिरूप में विद्यमान ईश्वर का कथन करके ईश्वर, जीव और प्रकृति के अनादित्व का प्रतिपादन किया है। इस मन्त्र को मुण्डक (३।१।१) तथा श्वेताश्वतर (४।६) उपनिषदों में ज्यों-का-त्यों उद्धृत करके वेदानुकूल इन तीनों पदार्थों के अनादित्व का उल्लेख हुआ है। अद्वैतवाद के सबसे बड़े प्रचारक आदि शंकराचार्य ने मुण्डकोपनिषद् में इस मन्त्र के भाष्य में “(सयुजौ) सदैव सर्वदा युक्तौ (सखायौ) समानाख्यौ आत्मेश्वरौ” लिखकर ईश्वर के समान ही जीव का अनादित्व स्वीकार किया है। जो अनादि है वह न किसी का अंश हो सकता है, न प्रतिबिम्ब, न आभास। वे आगे लिखते हैं—“तयोः परिष्वक्तयोः (अन्यः) एकः (पिप्पलं) कर्मनिष्पन्नं सुख-दुःखलक्षणं फलं (स्वाद्वत्ति) स्वादु भक्षयति। (अन्यः) इतरो ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सर्वसत्त्वोपाधीरीश्वरः (अनश्नन्) न अश्नाति। प्रेरयिता ह्यसौ उभयोर्भोज्य-भोक्तोर्नित्यसाक्षित्वसत्तामात्रेण स अनश्नन् (अभिचाकशीति) पश्यत्यैव केवलम्”।

सायणाचार्य के पूर्ववर्ती स्वामी आत्मानन्द ने भी अपने भाष्य में आचार्य शंकर का अनुसरण करते हुए इस मन्त्र को जीवेश्वर, प्रकृति के अनादित्व व भेद का प्रतिपादक माना है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।१२) में तो मानो प्रत्यक्ष गिनती करके तीनों के अनादित्व का नामोल्लेखपूर्वक प्रतिपादन किया है—“भोक्ता भोग्यं प्रेरयितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।” यहाँ जीव भोक्ता है, प्रकृति भोग्य है, और ईश्वर दोनों का प्रेरक व नियन्ता।

भगवद्गीता में भी इस सिद्धान्त का विशदीकरण करते हुए लिखा है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ॥

प्रकृति और पुरुष (जीव) दोनों को आनादि मानो। उत्तम पुरुष तो इन दोनों (जीव तथा प्रकृति) से भिन्न है जो परमात्मा कहाता है।

—तिलक, गीता कर्मयोगरहस्य

इन अनादि या नित्य पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव भी नित्य हैं।

५३. प्रवाह से अनादि पदार्थ

जो कार्यजगत्, जीव के कर्म और जो इनका संयोग-वियोग है, ये तीन 'परम्परा' से अनादि' हैं।

व्याख्या—ऋषि स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में लिखते हैं—“जो संयोग से द्रव्य, गुण, कर्म, उत्पन्न होते हैं, वे वियोग होने के पश्चात् नहीं रहते, परन्तु जिससे प्रथम संयोग होता है, वह सामर्थ्य उनमें अनादि है और उससे पुनरपि संयोग होगा और वियोग भी। इन तीनों (ईश्वर-जीव-प्रकृति) को प्रवाह से अनादि मानता हूँ।”

नामरूप जगत् प्रकृति का विस्तार है और कर्मफल का रंगमंच। जगत् का अनेकत्व प्रकृतिजन्य भोग्य विषयों और उनके उपभोक्ता जीवों का परिणाम है। जीवात्माएँ प्रत्येक नये जन्म में इस भौतिक शरीर में कर्म करती हैं और विगत जन्मों में किये कर्मों का फल भोगती हैं। विभिन्न योनियों में भ्रमण करती हुई जीवात्माएँ अपने चरम लक्ष्य मोक्ष की ओर बढ़ती हैं। प्रलयकाल आने पर जीवों के जो कर्म अभुक्त रह जाते हैं, उनका फल भोगने के लिए उन्हें प्रलयकाल की समाप्ति पर होनेवाली अगली सृष्टि में नये शरीर में प्रवेश करना पड़ता है। इस प्रकार हर सृष्टि के बाद प्रलय और हर प्रलय के बाद सृष्टि का क्रम चलता रहता है। ये दोनों जीवात्मा तथा प्रकृति और इनका नियमन करनेवाली तीसरी स्वतन्त्र सत्ता परमेश्वर सदा से हैं, और सदा रहेंगे।

ऐसा कोई समय नहीं था जब इनमें से किसी एक का भी अभाव रहा हो और न कोई ऐसा समय होगा जब इनमें से कोई एक न रहेगा। इसे हम द्वैत का नाम दे सकते हैं—एक सत्ता जड़ (प्रकृति) और दूसरी चेतन आत्मा (जीवात्मा व परमात्मा)। इसे त्रिवाद (त्रैतवाद) का नाम भी दिया जा सकता है—ईश्वर, जीव, और प्रकृति। यद्यपि परमात्मा एक है, जीवात्माओं तथा प्रकृति के परमाणुओं के अनेक होने से इसे अनेकवाद भी कहा जा सकता है।

जीवात्मा अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति है, और उसे अपने निर्वाह और विकास के लिए भौतिक साधन अपेक्षित हैं। इसके अतिरिक्त उसे अपने

ज्ञान तथा कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होने के लिए मार्गदर्शन की आवश्यकता है। परमेश्वर भौतिकता से सर्वथा असंयुक्त सर्वोच्च सत्ता है। न उसकी सत्ता प्रकृति पर निर्भर है और न वह अपनी स्थिति के लिए उसपर आश्रित है। फिर भी वह 'प्राणतो निमिषतः' तथा 'द्विपदश्चतुष्पद' सबपर 'ईशे' शासन करता है। वह सर्वशक्तिमान् है, पर स्वेच्छाचारी नहीं। विधि-विधान के अन्तर्गत ही सब कार्य करता है।

प्रकृति का परिणाम होने से संसार परिणामी है—वह बनता भी है, बिगड़ता भी है। इस रूप में इसकी दो स्थितियाँ हैं—सर्ग और प्रलय। ये एक दूसरे के अनन्तर आवर्तमान रहती हैं। सत् से असत् और असत् से सत् कभी नहीं होता। संसार का अस्तित्व प्रत्यक्ष है—वह 'सत्' है तो 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' के नियमानुसार वह पहले भी रहा होगा और आगे भी रहेगा, परन्तु अपने वर्तमान रूप में उसका सदा बना रहना आवश्यक नहीं। प्रत्येक दिन और रात्रि का अन्त देखने में आता है, किन्तु दिन के पूर्व रात्रि और रात्रि के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात्रि और रात्रि के पीछे दिन निरन्तर चले आते हैं। इस क्रम का न तो आदि है और न अन्त। इसी प्रकार प्रत्येक सृष्टि और प्रलय का अन्त होता रहता है, किन्तु सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि और इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि का चक्र अनवरत चला आता है। इस क्रम का न आदि था और न अन्त होगा। इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि है। यदि सृष्टि का अन्त हो जाए तो ईश्वर में सृष्टिकर्तृत्व आदि गुणों (जन्माद्यस्य यतः—वेदान्त १।१।२) का अभाव हो जाए।

जैसी सृष्टि अब है, वैसी ही पहले थी और वैसी ही आगे होगी। अल्पज्ञ जीव के ज्ञान में न्यूनाधिक्य होने से उसके काम में भूल-चूक हो सकती है। परिणामतः उसमें संशोधन-परिवर्धन करते रहना पड़ता है। परमेश्वर के निर्भ्रान्त और पूर्ण होने से उसके सभी कार्य पूर्ण और निर्दोष होते हैं, अतः वे सदा एक-जैसे होते हैं। इसमें ऋग्वेद का यह मन्त्र प्रमाण है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।

दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ —१०।१९०।३

५४. अनादि का स्वरूप

जो कभी न उत्पन्न हुआ हो, जिसका कारण भी कोई न होवे, अर्थात् जो सदा से स्वयं सिद्ध हो, वह 'अनादि'

कहाता है।

व्याख्या—जो सदा से है, और सदा रहेगा, अर्थात् जो सब कालों में विद्यमान है, वह नित्य कहाता है। जो आज हैं, कल नहीं, ऐसे 'श्वोभावाः' पदार्थ नित्य या अनादि नहीं कहाते। जिसका आदि है उसका अन्त अवश्यम्भावी है, अतः जो अनादि है वही नित्य होगा। 'यत्तु कालान्तरेणापि नान्यां संज्ञामुपैति'—जो काल की गति में आकर नाम-रूप के परिवर्तन से भी अन्य संज्ञा को ग्रहण नहीं होता, वह नित्य कहाता है—'As it was, is and shall be.' वैशेषिकसूत्र (४।१।१) के अनुसार 'सदकारणवन्नित्यम्'—नित्य वस्तु अपनी सत्ता के लिए किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखती—जो सृष्टि की रचना में 'uncaused cause' होती है। किसी कारण से उत्पन्न पदार्थ कार्य होने से नित्य नहीं होता। इसलिए जो पदार्थ अनुत्पन्न, निरवयव एवं त्रिकालवर्ती है, वही अनादि है। लोक-लोकान्तर में जितने पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, वे विद्यमान तो हैं, किन्तु किसी-न-किसी का परिणाम हैं, अर्थात् कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी कारण से उत्पन्न हुए हैं। इसलिए वे 'अनादि' नहीं हो सकते और जो वस्तु बनती है वह सावयव होने से विकारी एवं अनित्य होती है और जो अनित्य है, वह अनादि नहीं हो सकती।

५५. पुरुषार्थ

सर्वथा आलस्य छोड़के उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिए मन, शरीर, वाणी और धन से जो अत्यन्त उद्योग करना है, उसको पुरुषार्थ कहते हैं।

व्याख्या—पौरुष, उद्योग, परिश्रम आदि पुरुषार्थ के पर्याय हैं। "आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतो अयनम्" (अथर्व०) आगे बढ़ना और ऊपर चढ़ना जीवन का लक्षण है। गति आगे बढ़ने का नाम है, पीछे हटने का नहीं। 'ऋ गतौ' धातु से आर्य शब्द निष्पन्न होता है। और 'गतेस्त्रयोऽर्थाः' गति के तीन अर्थ हैं—ज्ञान, गमन, और प्राप्ति। अथर्ववेद (८।१।६) में कहा है—'उद्यानं ते पुरुष नावयानम्'—हे पुरुष! तू उत्पत्ति की ओर बढ़, पतन की ओर नहीं। पुरुष से ही पुरुषार्थ शब्द बनता है।

पुरुषार्थ करनेवाले को परमेश्वर विश्वास दिलाता है कि "कृतं ते दक्षिणे हस्ते जयो ते सव्य आहितः"—तू दाएँ हाथ से पुरुषार्थ करेगा तो सफलता तेरे बाएँ हाथ का खेल है। परिश्रम व्यर्थ नहीं

जाता—“न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति” (गीता) । ऋषि सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं कि प्रारब्ध से पुरुषार्थ बड़ा है, क्योंकि पुरुषार्थ से ही प्रारब्ध बनता है। कर्ण की गर्वोक्ति प्रसिद्ध है—“दैवायत्तं कुले जन्म ममायत्तं तु पौरुषम्”—जन्म देना तो भाग्य का खेल है, पर पुरुषार्थ तो मेरे हाथ में है और कर्ण ने जो कहा था वह कर दिखाया ।

५६. पुरुषार्थ के भेद

जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा करना, प्राप्त का अच्छे प्रकार रक्षण करना, रक्षित को बढ़ाना और बढ़े हुए पदार्थों का सत्यविद्या की उन्नति में तथा सबके हित करने में खर्च करना है, इन चार प्रकार के कर्मों को ‘पुरुषार्थ’ कहते हैं।

व्याख्या—ग्रन्थकार ने ‘व्यवहारभानु’ में इसका व्याख्यान करते हुए लिखा है—“न्याय-धर्म से युक्त क्रिया से अप्राप्त पदार्थों की अभिलाषा करके उद्योग करना। उसकी सब प्रकार से रक्षा करनी चाहिए कि वह पदार्थ किसी प्रकार से नष्ट-भ्रष्ट न हो जाए। उसको धर्मयुक्त व्यवहार से बढ़ाते जाना और बढ़े हुए पदार्थ को उत्तम व्यवहारों में खर्च करना—[पुरुषार्थ के] ये चार भेद हैं।”

धन का कमाना बुरा नहीं है। बुराई तब पैदा होती है जब उसे पाने के लिए कुटिल और निकृष्ट उपायों से काम लिया जाता है। इसलिए वेद (यजुर्वेद ४०।१६) में ईश्वर से प्रार्थना की गई है—‘अग्रे नय सुपथा राये’—प्रभु हमें धन के लिए सुपथ से ले-चले। कुपथ में काँटे-ही-काँटे होते हैं जिनपर चलता हुआ मनुष्य अन्ततः दुःखों के ऐसे जंगल में फँस जाता है। जिसमें से फिर वह निकल नहीं पाता। धन जीवन-यापन का साधन है उसके बिना हमारी शरीर-यात्रा भी सम्भव नहीं, किन्तु जब साधनभूत धन साध्य बन जाता है तब हम स्वार्थान्ध हो कर्तव्य-कर्मों को भूलकर टेढ़े-मेढ़े रास्तों से धन कमाने में संकोच नहीं करते। तब धन हमारे लिए निधन (मृत्यु) का करण बनकर रह जाता है।

दरिद्रता को, अपनी हो या समाज की, दूर करने के लिए भरसक यत्न करना चाहिए, किन्तु आर्थिक दरिद्रता दूर करने के लिए मानसिक, चारित्रिक अथवा आध्यात्मिक सम्पत्ति दाँव पर लगानी पड़े तो घाटे का सौदा होगा। वाइबल के शब्दों में “What shall it profit a man if he gains the whole world but loses his self?” अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के मार्ग जीवन में आते हैं। दोराहे पर खड़े व्यक्ति के

भीतर 'दुरित' और 'भद्र'—सद्गुणों और दुर्गुणों का द्वन्द्व होता है। गीता ने उसे देवासुर-संग्राम अथवा दैवी तथा आसुरी वृत्तियों का संघर्ष कहा है। देवभाव मनुष्य का रक्षण व संवर्धन करता हुआ उसकी मुक्ति का कारण बनता है, जबकि आसुरी गुणों से उसका बन्धन दृढ़-दृढ़तर होता जाता है—“दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता”। —गीता १६।५

सीधा रास्ता लम्बा हो तो भी उसी पर चलना चाहिए, क्योंकि उसपर चलते हुए पथभ्रष्ट होने या लक्ष्य के दृष्टि से ओझल होने का डर नहीं होता। साधारणतया लोगों में धैर्य नहीं होता। ऐसे लोग सफलता पाने के लिए सुपथ को छोड़कर लघुपथ (Short-cut) को अपनाना श्रेयस्कर समझते हैं, वे रातों-रात लखपति और लखपति से करोड़पति बन जाना चाहते हैं और इस लालसा में वे उन बुरे कामों को करने में भी नहीं हिचकते जिन्हें वे अन्यथा हेय समझते हैं। फिर उनके पतन की सीमा नहीं रहती—“विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः” (भर्तृहरि-नीतिशतक १०)। ऐसे लोगों को सावधान करते हुए ऋषि ने लिखा है—‘न्यायधर्मयुक्त क्रिया से अप्राप्त पदार्थों की अभिलाषा करके उद्योग करना।’

“बढ़े हुए पदार्थों को उत्तम व्यवहारों में खर्च करना”—‘अग्ने नय सुपथा राये’ तथा ‘वयं स्याम पतयो रयीणाम्’ इन मन्त्रांशों में धन के लिए ‘रयि’ शब्द का प्रयोग हुआ है जो ‘रा दाने’ धातु से निष्पन्न हुआ है। जो धन अपने पास रखने के लिए नहीं, अपितु देने=दान करने के लिए कमाया जाता है, वह ‘रयि’ कहा जाता है। उसका विनियोग श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ=परोपकार में होता है। जो धन केवल अपने काम में आना है, उसे अन्य किसी भी नाम से पुकारा जाए, उसकी संज्ञा ‘रयि’ नहीं हो सकती। ‘रयि’ वही है जिसके लिए ‘शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर’ (अथर्व० ३।२४।५) कहा जा सके या जिसके साथ ‘आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव’ (रघुवंश) की भावना जुड़ी हो। ऐसे धन की प्राप्ति के लिए कोई कुपथ पर क्यों चलेगा?

कुछ लोग दोहरी प्रकृति के होते हैं। वे सुपथ और कुपथ दोनों पर एक साथ चलते हैं। नकली दवाइयाँ बेचकर लाखों रुपये कमाते हैं और न जाने कितने लोगों की जान से खेलते हैं। फिर उस पाप को धोने के लिए धर्मार्थ औषधालय को दान देकर नाम कमाते हैं। दालों, मसालों आदि खाद्य पदार्थों में मिलावट करके पैसा बटोरते और प्रायश्चित्त के तौर पर मन्दिर और धर्मशाला बनवाते हैं। तस्करी और

चोरबाजारी करके तिजोरियाँ भरते और उसी का एक अंश लगाकर तीर्थस्थानों में क्षेत्र स्थापित कर और गरीबों को रोटी खिलाकर दानवीर कहते हैं।

वस्तुतस्तु सचाई और ईमानदारी से कमाई करके और उस कमाई को परोपकार तथा धार्मिक कार्यों में लगाना ही पुरुषार्थ है।

५७. परोपकार

अपने सब सामर्थ्य से दूसरे प्राणियों को सुख होने के लिए जो तन-मन-धन से प्रयत्न करना है, वह 'परोपकार' कहाता है।

व्याख्या—‘स्वमन्ताव्यामन्तव्यप्रकाश’ में ग्रन्थकार ने लिखा है—
“परोपकार—जिससे मनुष्यों के दुराचार, दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार, सुख बढ़ें, उसके करने को ‘परोपकार’ कहता हूँ।” ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अन्तर्गत वेदोक्तधर्मविषय में अथर्ववेद (१२।५।६) में आये ‘स्वधया परिहिता’ की व्याख्या करते हुए ऋषि लिखते हैं—“परितः सर्वतः स्वकीयपदार्थशुभगुणधारणेनैव सन्तुष्य सर्वे मनुष्याः सर्वेभ्यो हितकारिणः स्युः,” अर्थात् स्वधा=अपने शुभ पदार्थों और गुणों के धारण के द्वारा मनुष्य को सब ओर से (सब प्रकार) से सबका हितकारक होना चाहिए (पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः)। परोपकार की भावना ऋषि दयानन्द के चिन्तन में सर्वत्र ओत-प्रोत है। ‘सत्य’ और ‘परोपकार’ मानो उनके धर्म का मूलाधार हैं। सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास के आरम्भ में स्वरचित श्लोक में भी उन्होंने ‘धन्या नरा विहितकर्म-परोपकाराः’ लिखकर मानो ‘परोपकार’ को मानवधर्म के रूप में स्वीकार किया है। पशुओं के कोश में ‘परोपकार’ शब्द नहीं मिलेगा, क्योंकि वे सब अपने-अपने लिए जीते हैं। प्राणिजगत् में एकमात्र मनुष्ययोनि है, जिसमें आने पर जीव को दूसरों के लिए जीने का अवसर मिलता है। आर्यसमाज के नवम नियम में भी ऋषि ने अपनी भावना और मनुष्य-जीवन के इस वैशिष्ट्य को स्थान दिया है—

“प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए, अपितु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

आत्मार्थं जीवलोकेऽस्मिन् को न जीवति मानवः।

परं परोपकारार्थं यो जीवति स जीवति॥

परोपकारशून्यस्य धिङ्मनुष्यस्य जीवितम्।

धन्यास्ते पशवो येषां चर्ममप्युपकरिष्यति॥

परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः परोपकाराय वहन्ति नद्यः ।

परोपकाराय दुहन्ति गावः परोपकाराय सतां विभूतयः ॥

गोकरुणानिधि में ऋषि दयानन्द मनुष्यमात्र को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

सुनो बन्धुवर्गों! तुम्हारा तन-मन-धन गाय आदि की रक्षारूप परोपकार में न लगे तो किस काम का ? देखो! परमात्मा का स्वभाव कि जिसने सब विश्व और सब पदार्थ परोपकार ही के लिए रच रखे हैं, वैसे तुम भी अपना तन-मन-धन परोपकार ही के लिए अर्पण करो ।

५८. शिष्टाचार

जिसमें शुभ गुणों का ग्रहण और अशुभ गुणों का त्याग किया जाता है, वह 'शिष्टाचार' कहाता है।

व्याख्या—'शासु अनुशिष्टौ' धातु से शिष्ट शब्द बनता है। इस प्रकार शिष्टाचार का अर्थ हुआ—अनुशासित व्यक्तियों का व्यवहार। उसका निश्चय कैसे हो, इस विषय में भगवान् मनु का कहना है—
“आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्तमेव च”—वेद और स्मृति में प्रतिपादित धर्म शिष्टाचार कहाता है, किन्तु जहाँ श्रुति-स्मृति मौन हो वहाँ क्या करें। इसपर मनु कहते हैं—

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद् भवेत् ।

यं शिष्टाः ब्राह्मणा ब्रूयुस्स धर्मः स्यादशंकितः ॥

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सम्परिवृंहणः ।

ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥

जो धर्मयुक्त व्यवहार स्मृति आदि में न कहे हों तो जिसे शिष्ट, आस विद्वान् कहें उसे निःशङ्क हो मान लें। शिष्ट ब्राह्मण कौन होते हैं? मनु बतलाते हैं कि जो संगोपांग वेद पढ़ें हों, श्रुति और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अवगत हों, परोपकारी और धार्मिक विद्वान् हों, ऐसे ब्राह्मणों को शिष्ट जानना चाहिए।

इस विषय में स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में ऋषि ने निर्णायक शब्दों में लिखा है—“शिष्टाचार—जो धर्माचरणपूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्या ग्रहण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना है, यही 'शिष्टाचार' और जो इसको करता है, वह शिष्ट कहाता है।”

५९. सदाचार

जो सृष्टि से लेके आजपर्यन्त सत्पुरुषों का वेदोक्त आचार चला आया है कि जिसमें सत्य का ही आचरण और असत्य का परित्याग किया है, उसको 'सदाचार' कहते हैं।

व्याख्या—सत्पुरुषों का आचार सदाचार कहाता है। सत्पुरुष का विवेचन पूर्वोक्त '१८. सत्पुरुष' में हो चुका है। अष्टांगयोग के अन्तर्गत यम-नियम तथा मनुस्मृति में प्रतिपादित धर्म के दश लक्षणों का पालन भी सदाचार है। आर्यसमाज के नियम ४, ५, ७, ९ और १० भी सदाचार के निर्देशक हैं—

नियम-४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

नियम-५—सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।

नियम-७—सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य वर्तना चाहिए।

नियम-९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहता चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

नियम-१०—सबको सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और स्वहितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

६०. विद्या-पुस्तक

जो ईश्वरोक्त, सनातन, सत्यविद्यामय चार वेद हैं, उनको विद्या-पुस्तक कहते हैं।

व्याख्या—जैसे एक शिल्पी किसी यन्त्र का अथवा वैद्य ओषधि का निर्माण करता है और उसका विवरण देने के लिए एक पुस्तिका तैयार करता है, दोनों में सामंजस्य होने पर यह सिद्ध होता है कि ये दोनों एक ही व्यक्ति की कृति हैं। यह मान लेने पर कि इस नाम-रूपात्मक जगत् का रचयिता परमेश्वर है, यह मानना होगा कि इसकी प्रक्रिया को भी वही जान सकता है, न कि मानव जिसका इसकी रचना में कोई हाथ नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर-रचित जगत् और उसकी अभिव्यक्ति की प्रक्रियाओं का यथायथ वर्णन जिस ग्रन्थ में होगा वही सत्यविद्या का पुस्तक होगा। इस कसौटी पर वेद ही खरा उतरता है। इसीलिए ग्रन्थकार ने वेद को ही सत्यविद्याओं का

पुस्तक माना है। मनु ने उसी को 'सर्वज्ञानमय' कहा है। ऋषि ने स्वमन्तव्यामन्तव्य में लिखा है—“चारों वेदों (विद्या-धर्मयुक्त ईश्वरप्रणीत संहिता मन्त्रभाग) को निर्भ्रान्त, स्वतःप्रमाण मानता हूँ। वे स्वयं प्रमाणरूप हैं कि जिनका प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं। जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं, वैसे चारों वेद हैं।

और चारों वेदों के ब्राह्मण, छह अङ्ग, छह उपाङ्ग, चार उपवेद और ग्यारह सौ सत्ताईस शाखाएँ जो कि वेदों के व्याख्यानरूप ब्रह्मादि ऋषियों के बनाये ग्रन्थ हैं, उनको परतःप्रमाण और इनमें जो वेदविरुद्ध वचन हैं, उनका अप्रमाण मानता हूँ।”

वेदाविरुद्ध मनुष्यरचित ग्रन्थ भी विद्या के पुस्तक हो सकते हैं।

६१. आचार्य

जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराके सब विद्याओं को पढ़ा देवे, उसको 'आचार्य' कहते हैं।

व्याख्या—यास्काचार्य ने निरुक्त (१।४।६) में लिखा है—
'आचार्यः कस्माद् आचारं ग्राहयति, आचिनोति अर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा।' आचार्य उसे कहते हैं जो शिष्य को आचार ग्रहण कराए तथा उसकी बुद्धि का सञ्चय करे।

स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में ग्रन्थकार ने लिखा है—“जो साङ्गोपाङ्ग वेदविद्याओं का अध्यापक, सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे, वह 'आचार्य' कहाता है। मनुस्मृति के अनुसार—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।

सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

—मनु० २।१४०

अर्थात् जो द्विज शिष्य का उपनय करके कल्प (यज्ञीयविधि) तथा रहस्य (उपनिषदादि) के साथ वेद पढ़ाए, उसे 'आचार्य' कहते हैं।

व्यवहारभानु में लिखा है—“जो विद्यार्थियों को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षापूर्वक विद्या होने के लिए तन, मन और धन से प्रयत्न करे, उसको 'आचार्य' कहते हैं।” 'वेदविरुद्धमतखण्डनम्' के अनुसार—“जो द्विज यज्ञोपवीत कराके कल्पसूत्र और वेदान्तसहित शिष्य को वेद पढ़ावे, उसको 'आचार्य' कहते हैं।”

६२. गुरु

जो वीर्यदान से लेके, भोजनादि कराके पालन करता है, इससे पिता को 'गुरु' कहते हैं, और जो अपने सत्योपदेश से हृदय का अज्ञानरूपी अन्धकार मिटा देवे, उसको भी 'गुरु' अर्थात् आचार्य कहते हैं।

व्याख्या—'गृ शब्दे' धातु से गुरु शब्द बनता है—“यो शब्दान् धर्मान् गृणाति उपदिशति स गुरुः”। स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश के अनुसार—

“माता-पिता और जो सत्य का ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे वह भी 'गुरु' कहाता है।

वेदविरुद्धमतखण्डनम् में लिखा है—

“अपने पुत्रों के प्रति गुरु होने का मुख्य अधिकार पिता को है, और किसी का स्वयमेव गुरु बन बैठने का धर्मशास्त्र में विधान नहीं है।”

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥

जो मनुष्य अज्ञानरूपी तिमिर से अन्धे हैं, उनकी आँखों को जिसने ज्ञानरूपी अञ्जन की शलाका से खोल दिया है, उस गुरुवर को प्रणाम है।

गुरु उसी को स्वीकार करना चाहिए जो वेदादि शास्त्रों में पारंगत हो, धार्मिक और निर्लोभ हो, पूर्ण सदाचारी, सत्यनिष्ठ, त्यागी, तपःपूत तथा शिष्यों का हितैषी हो। परमेश्वर भी गुरु है जिसके विषय में महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में लिखा है 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।'।

वह समस्त मनुष्यजाति का आदि गुरु था। उसी ने सृष्टि के आदि में वेदों का ज्ञान देकर हमें पशुओं से भिन्न मनुष्य बनाया, जिससे हम मननशील होकर पृथिवी पर विचरने में समर्थ हुए।

६३. अतिथि

जिसकी आने-जाने की कोई भी निश्चित तिथि न हो; तथा जो विद्वान् होकर सर्वत्र भ्रमण करके प्रश्नोत्तरों के उपदेश से सब जीवों का उपकार करता है, उसको अतिथि कहते हैं।

व्याख्या—मनुस्मृति (३।१०२) के अनुसार 'अनित्यं हि स्थितो

यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते'—जिसके ठहरने=आने-जाने का समय नियत न हो, उसे अतिथि कहते हैं। आत्मा को भी अतिथि कहा जाता है, क्योंकि उसके भी शरीर में प्रवेश तथा निष्क्रमण=संयोग-वियोग=जन्म-मृत्यु का नियत समय नहीं होता। "अतिथीनामदृष्टपूर्वाणां गृहागतानां सपर्यणमतिथियज्ञः"—अकस्मात् घर पर आनेवालों का सेवा-सत्कार अतिथियज्ञ कहाता है। अतिथि के सन्दर्भ में मनु का आदेश है—

सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।

अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।

एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

—३।९९, १०१

आये हुए अतिथि के लिए यथाशक्ति आसन, जल तथा अन्न विधिपूर्वक सत्कृत करके दे। (अन्न न हो तो) तृणासन, विश्राम के लिए स्थान, जल और मीठा बोल—इन चार बातों की कमी तो सत्पुरुषों के घर में कभी नहीं होती।

अथर्ववेद में कहा है—

“एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात्पूर्वो नाशनीयात्”

—९।६।३

अतिथि वेदविद् ब्राह्मण के तुल्य होता है, इसलिए उससे पहले गृहस्थ को भोजन नहीं करना चाहिए।

कठोपनिषद् में अतिथि-सत्कार के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए यमाचार्य की पत्नी उनसे कहती है—

आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥

घर आये अतिथि का समुचित सत्कार न होनेपर मनुष्य की आशा (अज्ञात प्राप्य वस्तु की चाहना) प्रतीक्षा (ज्ञात प्राप्य वस्तु की चाहना) संगतं (सत्संगति से प्राप्त होनेवाला फल) सूनृता (प्रिय-वचन बोलने का फल) इष्ट (यज्ञ का फल), आपूर्त (लोककल्याणार्थ किये गये यज्ञ का फल), सन्तान और पशु सभी नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रेरित किये जाने पर यमाचार्य ने अपने घर पर तीन दिन तक भूखा रहनेवाले ब्रह्म=अतिथि नचिकेता को प्रसन्न करने के लिए तीन वर माँगने के लिए कहा—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनशनं ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥

—१।१९

इसपर नचिकेता ने यमाचार्य से पितृ-तोष, स्वर्ग-सुख की साधना और आत्मज्ञान की प्राप्ति—इन तीन वरों की याचना की।

इस विषय का विस्तृत विवेचन करते हुए ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—

“जिसकी [आने-जाने की] कोई तिथि निश्चित न हो, अर्थात् अकस्मात् धार्मिक, सत्योपदेशक, सबके उपकारार्थ घूमनेवाला पूर्ण विद्वान्, परमयोगी, संन्यासी गृहस्थ के यहाँ आवे तो उसको प्रथम पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय तीन प्रकार का जल देकर, पश्चात् आसन पर सत्कारपूर्वक बिठाकर खान-पान आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से सेवा-शुश्रूषा करके उनको प्रसन्न करे। पश्चात् सत्संग कर उनसे ज्ञानविशेष आदि जिनसे धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष की प्राप्ति होवे, ऐसे-ऐसे उपदेशों को श्रवण करे और चाल-चलन भी उनके उपदेशानुसार रखे। समय पाके गृहस्थ और राजा आदि भी अतिथिवत् सेवा करने योग्य हैं, परन्तु—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकान् शठान् ।

हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥

—मनु० ४।३०

अर्थात् पाषण्डी, वेदविरुद्ध आचरण करनेहारे, ‘विकर्मस्थ’=जो वेदविरुद्ध कर्म कर्ता, मिथ्याभाषणादियुक्त, ‘वैडालवृत्तिक’=जैसे विडाल छिपकर और स्थिर रहकर, ताकता-ताकता झपटकर मूसे आदि प्राणियों को मारकर अपना पेट भरता है, वैसे जनों का नाम वैडालवृत्तिक, ‘शठ’ अर्थात् हठी, दुराग्रही, अभिमानी, आप जाने नहीं, औरों का कहा माने नहीं, ‘हैतुक’ कुतर्की, व्यर्थ बकनेवाले, जैसेकि आजकल के वेदान्ती बकते हैं कि हम ब्रह्म हैं और जगत् मिथ्या है, वेदादिशास्त्र और ईश्वर भी कल्पित हैं, इत्यादि गपोड़ा हाँकनेवाले, ‘वकवृत्ति’ जैसे वक एक पैर उठा, ध्यानावस्थित के समान होकर झट मच्छी के प्राण हरके अपना स्वार्थ सिद्ध करता है, वैसे आज-कल के वैरागी और खाकी आदि हठी, दुराग्रही, वेदविरोधी हैं। ऐसों का सत्कार वाणिमात्र से भी न करना चाहिए, क्योंकि इनका सत्कार करने से ये वृद्धि को पाकर संसार को अधर्मयुक्त करते हैं। आप तो अवन्ति के काम करते ही हैं, सेवक

को भी अविद्यारूपी महासागर में डुबो देते हैं।”

६४. पंचायतनपूजा

जीते माता-पिता, आचार्य, अतिथि और परमेश्वर का जो यथायोग्य सत्कार करके प्रसन्न करना है, उसको ‘पंचायतनपूजा’ कहते हैं।

व्याख्या—इसी का अपर नाम ‘पंचदेवपूजा’ है। ऋषि ने सत्यार्थ-प्रकाश (समुल्लास ११) में लिखा है—“यह शब्द बहुत अच्छे अर्थवाला है, परन्तु विद्याविहीन मूढ़ों ने उसके उत्तम अर्थ को छोड़कर निकृष्ट अर्थ पकड़ लिया जो आजकल शिवादि पाँचों की मूर्तियाँ बनाकर पूजते हैं, पर सच्ची पंचायतन वेदोक्त और वेदानुकूलोक्त देवपूजा और मूर्तिपूजा क्या है, सुनो—

तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव। माता, पिता, आचार्य (गुरु) और अतिथि की सेवा करना देवपूजा कहाती है।

१. प्रथम माता मूर्तिमती, पूजनीय देवता, अर्थात् सन्तानों को तन-मन-धन से सेवा करके माता को प्रसन्न रखना।

२. दूसरा पिता सत्कर्तव्य देव। उसकी भी माता के समान सेवा करनी।

३. तीसरा आचार्य जो विद्या का देनेवाला है। उसकी तन-मन-धन से सेवा करनी।

४. चौथा अतिथि जोकि विद्वान्, धार्मिक, निष्कपट, सबकी उन्नती में अपनी उन्नति चाहनेवाला, जगत् में भ्रमण करता हुआ सत्योपदेश से सबको सुखी करता है, उसकी सेवा करें।

५. पाँचवाँ स्त्री के लिए स्वपति और पुरुष के लिए स्वपत्नी पूजनीय है।

ये पाँच मूर्तिमान् देव हैं, जिनके संग से मनुष्य देह की उत्पत्ति, पालन तथा सत्य शिक्षा, विद्या और सत्योपदेश की प्राप्ति होती है। ये ही परमेश्वर को प्राप्त होने की सीढ़ियाँ हैं। इनकी सेवा न करके जो पाषाणादि मूर्ति पूजते हैं, वे अतीव वेदविरोधी हैं।

६५-६६. पूजा-अपूजा

जो ज्ञानादिगुणवाले का यथायोग्य सत्कार करना है, उसको ‘पूजा’ कहते हैं।

जो ज्ञानादिरहित जड़ पदार्थ, और जो सत्कार के योग्य नहीं हैं उनका जो सत्कार करना है, वह 'अपूजा' कहाती है।

व्याख्या—'पूजा' शब्द 'पूज सेवायाम्' धातु से बनता है, जिसका अर्थ है—सेवा, सत्कार, सम्मान करना। पूजा सदा यथायोग्य होती है। 'यथायोग्य' का अर्थ है जिसके साथ जैसा व्यवहार शास्त्रविहित है, वैसा व्यवहार करना। 'पूज्य' की आज्ञा का पालन करना, अर्थात् तदनुकूल आचरण करना पूजा का आवश्यक अंग है।

६७. जड़

जो वस्तु ज्ञानादि गुणों से रहित है, उसको 'जड़' कहते हैं।

व्याख्या—पञ्चभूत या उनके संयोग से बनी वस्तु जिसमें इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान का अभाव हो, वह जड़ कहाती है। अथवा प्राण, अपान, निमेष (आँख का नीचे ढाँकना), उन्मेष (आँख का ऊपर उठाना), जीवन (प्राण धारण करना), मनः (मननशक्ति), गति (इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त करना), अन्तर्विकार (क्षुधा, तृषा, पीड़ा आदि विकारों का होना), सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष तथा ज्ञान आत्मा (चेतन सत्ता) के स्वाभाविक लिंग (चिह्न) हैं—ये जिसमें न हों, वह 'जड़' कहाता है।

६८. चेतन

जो पदार्थ ज्ञानादि गुणों से युक्त है, उसको 'चेतन' कहते हैं।

जड़ के विपरीत उपर्युक्त ज्ञानादि गुणों से युक्त पदार्थ 'चेतन' कहाता है।

६९-७०. भावना-अभावना

जो चीज़ जैसी हो, उसमें विचार से वैसा ही निश्चय करना कि जिसका विषय भ्रमरहित हो, अर्थात् जैसे को वैसा ही समझ लेना उसको 'भावना' कहते हैं।

जो भावना से उलटा हो, अर्थात् जो मिथ्याज्ञान से अन्य में अन्यका निश्चय मान लेना है, जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ का निश्चय कर लेना है, उसको 'अभावना' कहते हैं।

व्याख्या—जो पदार्थ जैसा हो उसे वैसा ही मानना, कथन करना

तथा उसके प्रति वैसा ही व्यवहार करना 'भावना' और इसके विपरीत 'अभावना' है। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' यह कथन सुनने में अच्छा लगता है, पर यथार्थ के विपरीत है—चाहे ऐसी भावना कितने ही शुद्ध मन से क्यों न की जाए। मृग-मरीचिका प्रसिद्ध है। मृग नितान्त निश्छल और निष्कपट मन से दूर फैले हुए बालू में जल की भावना करता है। इस भावना के साथ वह कुलांचे भरता है और मरुस्थल में भटक-भटककर मर जाता है। फिर भी वह बालू ही बना रहता है, उसकी भावना के अनुरूप जल बनकर उसकी प्यास नहीं बुझाता। नमक में चीनी की भावना करके डालने से दूध मीठा नहीं होता और न चीनी में नमक की भावना से वह नमकीन बनती है। जो पदार्थ मूलतः जैसा है, यथार्थ में वह वैसा ही रहता है। इसलिए उसे वैसा ही मानना 'भावना' है और इसके विपरीत मानना व कथन करना 'अभावना' है। पत्थर में पत्थर की, रोटी में रोटी की, जल में जल की और अग्नि में अग्नि की भावना करना 'भावना' है, इसके विपरीत अज्ञान, अथवा मिथ्या ज्ञान होने से वह 'अभावना' है।

सत्यार्थप्रकाश (समु० ११) में ऋषि ने कतिपय प्रश्नों के माध्यम से इस विषय को हृदयङ्गम कराने का यत्न किया है। उन्होंने पूछा है—“तुम मृत्तिका में सुवर्ण, रजत आदि की, पाषाण में हीरा-पत्रा आदि की, समुद्रफेन में मोती की, जल में दूध, दही और घृत आदि की और धूलि में मैदा, शक्कर आदि की भावना करके उनको वैसा क्यों नहीं बना लेते? तुम लोग दुःख की भावना कभी नहीं करते वह क्यों होता है? और सुख की भावना सदा करते हो वह क्यों नहीं प्राप्त होता? मरने की भावना कभी नहीं करते, फिर क्यों मर जाते हो? अन्धा पुरुष नेत्रों की भावना करके देखने क्यों नहीं लगता? और दरिद्र अपने में चक्रवर्ती राजा की भावना करके सम्राट् क्यों नहीं बन जाता?”

‘वेदविरुद्धमतखण्डनम्’ में उन्होंने पूछा है—“आपके शरीर में रेल की भावना करके हम बैठें तो जितने समय में जितनी दूर रेल पहुँचती है, उतने समय में उतनी दूर क्या आपका शरीर हमको पहुँचा देगा? यदि पहुँचा देवे तब तो भावना ठीक, अन्यथा मिथ्या? इसलिए पत्थर में पत्थर की और रोटी में रोटी की भावना करना यथार्थ ज्ञान कहाता है, अर्थात् जैसे को तैसा जानना भावना है। रोटी में पत्थर की और पत्थर में रोटी की भावना करना मिथ्या ज्ञान, अन्य में अन्य बुद्धि भ्रमरूप अभावना कहाती है।”

इसी तर्क से जड़ में चेतन की और पत्थर में भगवान् की भावना करना मिथ्या होने से 'अभावना' और ईश्वर के सर्वव्यापक होने से उसके मूर्ति में आवाहन और विसर्जन की कल्पना करना तथा मरणधर्मा मनुष्य को भगवान् मानकर उसकी पूजा करना भी अभावना है।

७१. पण्डित

जो सत्-असत् को विवेक से जाननेवाला, धर्मात्मा, सत्यवादी, सत्यप्रिय, विद्वान् और सबका हितकारी है, उसको 'पण्डित' कहते हैं।

व्याख्या—महाभारत में पण्डित का लक्षण इस प्रकार किया है—

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।

यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ २० ॥

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।

अनास्तिकः श्रद्धधानः एतत् पण्डितलक्षणम् ॥ २१ ॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति,

विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।

नासम्पृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे,

तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥ २६ ॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।

आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २८ ॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्।

आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥ ३३ ॥

श्रुतप्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा।

असंभिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्या लभेत सः ॥ ३४ ॥

—महाभारत, उद्योगपर्व, विदुरप्रजागर अध्याय ३३

अर्थ—जिसको आत्मज्ञान, सम्यक् आरम्भ, अर्थात् जो आलसी निकम्मा कभी न रहे, सुख-दुःख, हानि-लाभ, मानापमान, निन्दा-स्तुति, हर्ष-शोक से परे, नित्य धर्म ही में निश्चित रहे, जिसके मन को इन्द्रियों के विषय आकर्षित न कर सकें, वही 'पण्डित' कहाता है ॥ २० ॥

७२. मूर्ख

जो अज्ञान, हठ, दुराग्रहादि दोषसहित है, उसको 'मूर्ख'

इसी तर्क से जड़ में चेतन की और पत्थर में भगवान् की भावना करना मिथ्या होने से 'अभावना' और ईश्वर के सर्वव्यापक होने से उसके मूर्ति में आवाहन और विसर्जन की कल्पना करना तथा मरणधर्मा मनुष्य को भगवान् मानकर उसकी पूजा करना भी अभावना है।

७१. पण्डित

जो सत्-असत् को विवेक से जाननेवाला, धर्मात्मा, सत्यवादी, सत्यप्रिय, विद्वान् और सबका हितकारी है, उसको 'पण्डित' कहते हैं।

व्याख्या—महाभारत में पण्डित का लक्षण इस प्रकार किया है—

आत्मज्ञानं समारम्भस्ति तिक्षा धर्मनित्यता ।

यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ २० ॥

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते ।

अनास्तिकः श्रद्धावान् एतत् पण्डितलक्षणम् ॥ २१ ॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति,

विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।

नासम्पृष्टो ह्युपयुक्ते परार्थे,

तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥ २६ ॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितम् ।

आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २८ ॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।

आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥ ३३ ॥

श्रुतप्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।

असंभिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्या लभेत सः ॥ ३४ ॥

—महाभारत, उद्योगपर्व, विदुरप्रजागर अध्याय ३३

अर्थ—जिसको आत्मज्ञान, सम्यक् आरम्भ, अर्थात् जो आलसी निकम्मा कभी न रहे, सुख-दुःख, हानि-लाभ, मानापमान, निन्दा-स्तुति, हर्ष-शोक से परे, नित्य धर्म ही में निश्चित रहे, जिसके मन को इन्द्रियों के विषय आकर्षित न कर सकें, वही 'पण्डित' कहाता है ॥ २० ॥

७२. मूर्ख

जो अज्ञान, हठ, दुराग्रहादि दोषसहित है, उसको 'मूर्ख'

कहते हैं।

व्याख्या—महाभारत में मूर्ख के लक्षण इस प्रकार दिये हैं—

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः।

अर्थाश्चाऽकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः॥

अनाहूतः प्रविशति ह्यपृष्टो बहु भाषते।

अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः॥

—अध्याय ३३। ३५, ४१

ये श्लोक भी महाभारत में उद्योगर्व के अन्तर्गत विदुरप्रजागर के हैं।

अर्थ—जिसने कोई शास्त्र न पढ़ा हो, जो अतीव घमण्डी हो, दरिद्र रहते बड़े-बड़े मनोरथ करनेवाला हो, बिना कुछ किये पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा करनेवाला हो, उसको मूर्ख कहते हैं।

जो बिना बुलाये किसी के घर में या सभा में प्रवेश करे और बिना पूछे बढ़-बढ़कर बोलता जाए और अविश्वसनीय लोगों का विश्वास करे वह मूर्ख और नीच कहाता है।

भर्तृहरि ने प्रकारान्तर से मूर्ख का लक्षण इस प्रकार किया है—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्,

तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलितं मे मनः।

यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतम्,

तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

जब मैं बहुत थोड़ा जानता था तो मैं हाथी के समान मदान्ध था। उस समय मैं अपने-आपको सर्वज्ञ समझता था, परन्तु जब मुझे विद्वान् पुरुषों के सान्निध्य से कुछ ज्ञान हुआ तो ज्वर उतर जाने की भाँति मेरा अभिमान दूर हो गया और तब मुझे ऐसा लगने लगा कि मैं निपट मूर्ख हूँ।

बुद्धिमान् और मूर्ख की तुलना करते हुए कवि ने मूर्ख की पहचान इन शब्दों में बताई है—

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।

व्यसनेन तु मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥

७३. ज्येष्ठ-कनिष्ठ व्यवहार

जो बड़े और छोटों से यथायोग्य परस्पर मान्य करना है, उसको 'ज्येष्ठ-कनिष्ठ व्यवहार' कहते हैं।

व्याख्या—ज्येष्ठ का कनिष्ठ के प्रति स्नेह और कनिष्ठ का ज्येष्ठ के प्रति आदर का भाव होना चाहिए। अवस्था में बड़ा और अनुभवी होने तथा अनुशासन बनाये रखने की दृष्टि से कनिष्ठ को ज्येष्ठ का आज्ञाकारी होना उचित है—‘आज्ञा गुरुणां ह्यविचारणीया’, परन्तु शास्त्र ने इसकी भी सीमा निर्धारित की कर दी है। शिक्षा समाप्त होने पर गुरुकुल से विदा करते समय आचार्य स्नातक को निर्देश करता है—“यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि” (तै० उप० शीक्षावल्ली के अन्तर्गत दीक्षान्तभाषण) ॥ परन्तु कनिष्ठ के लिए धर्माधर्म—कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय कर पाना आसान नहीं है। इसलिए उनके लिए सदाचार के नियमों का निर्धारण करने के लिए इसी उद्देश्य से लिखे गये ग्रन्थों का अध्ययन करना आवश्यक है। इसी प्रकार लाड़-प्यार की अति से बच्चे बिगड़ न जाएँ, इसलिए स्नेह की अति से बचाना आवश्यक है। इस विषय में व्याकरण महाभाष्य का यह वचन द्रष्टव्य है—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।

लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः ॥

जो माता-पिता और आचार्य सन्तान और शिष्यों का ताड़न करते हैं वे जानो अपने हाथों से अमृत पिला रहे हैं और जो उन्हें लाड़न करते हैं वे उन्हें विष पिलाके नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं, क्योंकि लाड़न से सन्तान व शिष्य दोषयुक्त तथा ताड़ना से गुणयुक्त होते हैं, परन्तु माता-पिता तथा अध्यापक आदि ईर्ष्या-द्वेष से ताड़न न करें—ऊपर से भयप्रदान और भीतर से कृपादृष्टि रखें।

ज्येष्ठों को एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे कनिष्ठों को जैसा बना हुआ देखना चाहते हैं, वैसा वे स्वयं को बनाने की चेष्टा करें, क्योंकि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेत्तरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

श्रेष्ठ और ज्येष्ठ जैसा आचरण करते हैं, अन्य लोग उसी का अनुकरण करते हैं। इस विषय में व्यावहारिक दृष्टि से अथर्ववेद के निम्न दो मन्त्र ध्यान में रखने चाहिए—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥

मा भूता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

७४. सर्वहित

जो ज्ञान-मन और धन से सबके सुख बढ़ाने में उद्योग करना है, उसको 'सर्वहित' कहते हैं।

व्याख्या—हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं—“शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे” (ऋ० ७।२४।१) वह दो-पायों और चार-पायों—पशु-पक्षी और मनुष्य सबके लिए कल्याणकारी हो। प्राणिमात्र के सुख की यह वैदिक भावना ही सामाजिक जीवन-पद्धति के मूल में होनी चाहिए। सबके प्रति इस भावना के जाग्रत हुए बिना आदर्श समाज के निर्माण की कल्पना नहीं की जा सकती। समाज-व्यवस्था ऐसी सर्वहितकारी मर्यादा से युक्त होनी चाहिए जिसमें सबको न्याय मिले, सबको शारीरिक व बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास का समान अवसर मिले और जो सामाजिक कल्याणकारी नियमों के अधीन समान रूप से स्वतन्त्रता प्रदान करे। इस मर्यादा में रहते हुए मनुष्य अभ्युदय तथा निःश्रेयस=व्यवहार और परमार्थ दोनों को समानरूप से सिद्ध कर सके। हमारे महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में सिजविक (Sidgwick) नाम के जिस विद्वान् का नीतिशास्त्र पढ़ाया जाता है, उसके अनुसार कर्म-अकर्म के सम्बन्ध में संशय होने पर जिस तत्त्व के आधार पर निश्चय किया जाना चाहिए, वह है—सबसे अधिक लोगों का सबसे अधिक सुख (Greatest good of the greatest number— Sidgwick: Methods of Ethics, Book II, Chap. XI, P. 355)। महात्मा बुद्ध ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया था—‘बहुजनहिताय बहुजन सुखाय’ इसके विपरीत वैदिक भावना है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

आज के संसार में मनुष्य अनेक प्रकार के वादों—वर्गवाद, जातिवाद, राष्ट्रवाद आदि में विभक्त है। एक वर्ग दूसरे वर्ग पर, एक जाति दूसरी जाति पर, एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के लोगों पर, एक देश दूसरे देश पर, और एक विचारधारा के लोग दूसरी विचारधारा के लोगों पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए एक-दूसरे के विरुद्ध कौन-सी कुटिलता, क्रूरता और बर्बरता का व्यवहार नहीं करते? सभी

राष्ट्र एक-दूसरे का विनाश करने के लिए भयंकरतम भस्त्रों का निर्माण करने में अपनी सारी शक्ति लगा रहे हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्यमात्र का ही नहीं, प्राणिमात्र का हित 'पुमान् पुमांसं परि पतु विश्वतः' (यजुः० २९।५१) की पवित्र वैदिक भावना को अपनाकर एक-दूसरे की रक्षा में प्रवृत्त होने में है। इसी से प्रेरित होकर ऋषि व्यानन्द ने आर्यसमाज के नौवें नियम में लिखा—“प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए, अपितु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।”

७५. चोरी-त्याग

जो स्वामी की आज्ञा के बिना किसी के पदार्थ का ग्रहण करना है, वह चोरी और उसका छोड़ना 'चोरी-त्याग' कहाता है।

व्याख्या—अष्टाङ्गयोग में यमों (अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः—योगसूत्र २।३०) के अन्तर्गत चोरी-त्याग (अस्तेय) का विधान है। 'परद्रव्येष्वस्पृहारूपमस्तेयम्'—पराये द्रव्यों में इच्छा का न होना 'अस्तेय' कहाता है। जो अप्रदत्त तथा धर्मतः अप्राप्य है उसका ग्रहण अथवा जो निज स्व नहीं हैं उसका उसके स्वामी की अनुमति के बिना ग्रहण करना चोरी है। उसके विषय में निःस्पृह होने का जो भावविशेष है, वही 'अस्तेय' है। अचानक मिल जाने अथवा भूगर्भस्थ पदार्थ के मिल जाने से भी वह ग्राह्य नहीं हो जाता, क्योंकि निश्चय ही वह निज स्व न होकर पर स्व है। जिस पदार्थ पर दूसरे का अधिकार है, उसे ग्रहण करना तो दूर, ग्रहण करने की लालसा भी नहीं करनी चाहिए—'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' (यजुः० ४०।१)। लालच ही आगे चलकर स्तेय का रूप धारण कर लेता है। इसका सर्वथा त्याग ही अस्तेय है।

चोरी की भावना का परित्याग हो जाने पर वस्तुओं के लोभ अथवा संग्रह की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है। ऐसा व्यक्ति सबका विश्वासपात्र हो जाता है तथा जिस वस्तु को भी वह चाहता है वह उसे अनायास संकल्पमात्र से प्राप्त होती जाती है। इसी कारण योगी कहीं भी चला जाए, उसे किसी वस्तु का अभाव नहीं होगा।

७६. व्यभिचार-त्याग

जो अपनी स्त्री के बिना दूसरी स्त्री के साथ गमन करना

और अपनी स्त्री को ऋतुकाल के बिना वीर्यदान देना तथा अपनी स्त्री के साथ भी वीर्य का अत्यन्त नाश करना और युवावस्था के बिना विवाह करना है, यह सब व्यभिचार कहाता है। उसको छोड़ देने का नाम 'व्यभिचार-त्याग' कहाता है।

७७. जीव का स्वरूप

जो चेतन, अल्पज्ञ, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख और ज्ञान गुणवाला तथा नित्य है, वह 'जीव' कहाता है।

व्याख्या—न्यायदर्शन के अनुसार 'इच्छाद्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख-ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्'—जिसमें इच्छा-द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख तथा ज्ञान-गुण हों वह 'जीवात्मा' कहाता है।

लोकव्यवहार में प्रायः देखा जाता है कि जब कोई व्यक्ति किसी पदार्थ के विषय में सुख का अनुभव करता है तो वैसे पदार्थ को पुनः देखकर उसे लेना चाहता है। रसनेन्द्रिय से गृहीत आम्ररस का—कालान्तर में चक्षु द्वारा वैसे आम्ररस को देखकर—स्मरण हो आता है और उस फल को लेने की इच्छा होती है। चक्षु द्वारा फल को देखकर लेने की इच्छा उसी को होती है जिसने पहले उसका रसास्वादन किया होता है। इससे इन दोनों इन्द्रियों के विषय को ग्रहण करनेवाला इन दोनों इन्द्रियों से अतिरिक्त, किन्तु सम्बद्ध, जो तत्त्व है, वह आत्मा है। इस प्रकार इच्छा का होना आत्मा की सिद्धि में प्रमाण है।

ऐसे ही जिस पदार्थ के सम्बन्ध से किसी को दुःख पहुँचता है, उसके प्रति द्वेष की भावना उभरने से उससे दूर होना चाहता है और जिसके सम्बन्ध से सुख पहुँचता है, उसे देखकर उसके प्रति राग होने से उसे प्राप्त करना चाहता है। यह सब अनेक अर्थों के द्रष्टा व अनुभविता एक चेतन तत्त्व की सत्ता को स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं। इस प्रकार सुखसाधन पदार्थों के आदान में प्रयत्न के समान दुःखसाधन पदार्थों के परित्याग में प्रयत्न भी आत्मा के अस्तित्व का लिंग—लक्षण है।

विभिन्न इन्द्रियाँ अपने नियत एक-एक विषय के ग्रहण करने में समर्थ हैं। स्वयं इन्द्रियों के द्रष्टा माने जाने पर—एक देह में हुए ज्ञान का अन्य देह से प्रतिसन्धान न होने के समान—एक इन्द्रिय से ज्ञात विषय का अन्य इन्द्रिय द्वारा प्रतिसन्धान होना सम्भव नहीं। इससे अनेक

विषयों के द्रष्टा एक आत्मतत्त्व का अस्तित्व सिद्ध है।

वैशेषिकदर्शन में इतना विशेष है—“प्राणाऽपाननिमेषोन्मेष-जीवन-मनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः सुखदुःखेच्छद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गातिः” (वै० ३।२।४) अर्थात् प्राण (वायु को बाहर निकालना), अपान (बाहर से वायु को भीतर लेना), निमेष (आँख को नीचे ढाँकना), उन्मेष (आँख को ऊपर उठाना), जीवन (प्राण का धारण करना), मनः (मनन; विचार अर्थात् ज्ञान), गति (यथेष्ट गमन करना), इन्द्रिय (इन्द्रियों को विषयों में चलाना, उनसे विषयों का ग्रहण करना), अन्तर्विकार (क्षुधा, तृषा, ज्वर-पीड़ा आदि विकारों का होना), सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष और प्रयत्न—ये सब अत्मा के लिङ्ग अर्थात् कर्म और गुण हैं।

‘प्राणाऽपान’—शरीर के भीतर सञ्चरण करनेवाला वायु ऊर्ध्वगामी और अधोगामी रहता है। नासिका-द्वार से वायु भीतर जाता और बाहर आता है। कभी-कभी अपेक्षा होने पर कुछ काल तक मुख द्वारा वायु बाहर-भीतर जाता-आता है। यह सब नियमित व्यवस्था शरीर में किसी चेतन सत्ता के प्रयत्न आदि के बिना सम्भव नहीं। जड़ वायु का स्वभाव तिर्यग् गति (तिरछा चलना) रहता है, परन्तु देह में ऊर्ध्वगामी और अधोगामी प्राण-अपान की व्यवस्था देह में चेतन आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

साधारणतया प्राण का अर्थ बाहर से वायु को भीतर लेना और अपान का अर्थ वायु को भीतर से बाहर निकाला किया जाता है, परन्तु यह अशास्त्रीय है, ऋषि ने इन पदों की व्याख्या योगशास्त्र के मन्त्रव्यों के अनुसार की है। वे स्वयं योगी थे। उन्हें ‘प्राण’ और ‘अपान’, उन स्थितियों एवं वास्तविकताओं का साक्षात् अनुभव था। प्राण-अपान की यही व्याख्या अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों में उपलब्ध है। हम यहाँ परम प्रमाण वेद (अथर्ववेद के प्राणसूक्त) की यह ऋचा प्रस्तुत करते हैं—

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।

यदा त्वं प्राण जिवस्यथ स जायते पुनः॥

—अथर्व० ११।४।१४

गर्भस्थित बालक के शरीर में प्राणरूप वायु-क्रिया नहीं होती। जैसे ही गर्भ परिपुष्ट होकर यथाकाल बालक-शरीर बाहर आता है, उसी समय बालक-देह में प्राणरूप वायु-क्रिया का आरम्भ होता है। उद्धृत मन्त्र में वायु की पहली क्रिया ‘अपानति’ है, तत्पश्चात् ‘प्राणति’। जन्म तक वायु बालक के भीतर नहीं पहुँचेगा तब तक उसके भीतर से बाहर

आने का प्रश्न ही नहीं उठता, अतः 'अपानति' का अर्थ वायु का बाहर से भीतर आना ही ठहरता है। इस प्रकार इन क्रियाओं के क्रमिक प्रयोग से भी ऋषि द्वारा किये अर्थों की पुष्टि होती है। लोक में प्रचलित 'श्वास' तथा 'उच्छ्वास' क्रमशः 'अपान' और 'प्राण' के वाचक हैं।

ज्ञातृत्व, कर्तृव्य तथा भोक्तृत्व जीवात्मा के स्वाभाविक धर्म हैं।

७८. स्वभाव

जिस वस्तु का जो स्वाभाविक गुण है, जैसेकि अग्नि में रूप और दाह, अर्थात् जब तक वह वस्तु रहे, तब तक उसका वह गुण भी नहीं छूटता, इसलिए उसको 'स्वभाव' कहते हैं।

व्याख्या—नवीन वेदान्ती जीव की सत्ता को नकारते हुए कहते हैं—“एकत्वं पारमार्थिकं मिथ्याज्ञानविजृम्भितं च नानात्वम्” (शा० भा० २।१।१४)। अर्थात् प्रतीयमान जगत् में अनेकत्व का कारण अविद्योपाधि है, परमार्थ में सब एक हैं। शंकर यह भी कहते हैं कि “द्विरूपं ब्रह्मावगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्” (शा० भा० १।१।६२)। अर्थात् ब्रह्म के दो रूप हैं—एक नाम-रूप विकारभेद की उपाधिवाला और दूसरा इसके विपरीत सब प्रकार की उपाधियों से मुक्त। फिर शंकर कहते हैं—“न ह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनो अन्यादृशः स्वभावः सम्भवति” (तदेव ३।२।११) तथा “तस्मादस्त्यविकृतं ब्रह्म” (तदेव २।१।२७) अर्थात् उपाधि के कारण किसी वस्तु का स्वभाव नहीं बदलता, इसलिए ब्रह्म के ऊपर उपाधि का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, परन्तु जब उनसे कहा जाता है कि तब आपको “जीवो ब्रह्मैव नापरः” कहना छोड़ देना चाहिए, तब शंकर बगलें झाँकने लगते हैं।

७९. प्रलय

जो कार्य-जगत् का कारणरूप होना, अर्थात् जगत् का करनेवाला ईश्वर जिन-जिन कारणों से सृष्टि बनाता है उनसे अनेक कार्यों को रचके, यथावत् पालन करके, पुनः कारणरूप करके रखता है, उसका नाम 'प्रलय' है।

व्याख्या—विश्वसम्बन्धी प्रक्रिया के दो रूप हैं—एक रचनात्मक और दूसरा विनाशात्मक। दृश्यात्मक जगत् में वस्तुओं को बनते भी देखा जाता है और बिगड़ते भी। सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन प्रकार

के मूल तत्त्व हैं। साम्यावस्था में इनके संघात का नाम प्रकृति है। 'प्रक्रियते अनयेति प्रकृतिः'—जिससे कोई वस्तु बनाई जाए उसे प्रकृति कहते हैं। इसलिए प्रकृति शब्द ही सिद्ध करता है कि जगत् का मूल उपादान-कारण प्रकृति है। मूल प्रकृति में से भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं के व्यक्त होने का नाम रचना है और समय आने पर उनके विशिष्ट होकर मूल प्रकृति में विलीन हो जाने का नाम प्रलय है। प्रकृति की साम्यावस्था में विक्षोभ होने के परिणामस्वरूप विश्व अपने भिन्न-भिन्न तत्त्वों के साथ विकसित होता है और सर्गकाल की समाप्ति पर विपरीत क्रम में विकास की पूर्व स्थिति में आ जाता है और अन्त में प्रकृतिरूप होकर विलीन हो जाता है। विकृति का ही दूसरा नाम कार्यावस्था है। सृष्टि का अन्त होने पर प्रकृति पुनः साम्यावस्था में आ जाती है।

जैसे सृष्टि के पूर्व साम्यावस्था में अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रकृति अव्यक्त रहती है, वैसे ही प्रलय हो जाने पर यह जगत् यथापूर्व मूल उपादानकारण में लीन होकर अव्यक्तरूप रहता है। इस सन्दर्भ में गीता के ये दो श्लोक (८।१८, १९) द्रष्टव्य हैं—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तथैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवन्त्यहरागमे ॥

दिन (सृष्टि) का आरम्भ होने पर अव्यक्त से सब व्यक्त (पदार्थ) निर्मित होते हैं और रात्रि (प्रलय) आने पर सब उसी पूर्वोक्त में लीन हो जाते हैं।

भूतों का यह समुदाय (इसी प्रकार) बार-बार उत्पन्न होकर रात्रि होने पर निश्चितरूप से विलीन हो जाता और दिन होने पर फिर प्रकट हो जाता है।

८०. मायावी

जो छल-कपट-स्वार्थ में ही प्रसन्नता, दम्भ, अहंकार, शठतादि दोष हैं, उसको 'माया' कहते हैं, और जो मनुष्य इससे युक्त हो, उसे 'मायावी' कहते हैं।

व्याख्या—'माया' शब्द अनेकार्थवाची है। लोकव्यवहार में माया और उससे बने मायावी शब्द के वही अर्थ हैं, जो ग्रन्थकार ने यहाँ अपने लेख में दिये हैं। विशेषतः रहस्यपूर्ण ढंग से किये गये कार्य के

लिए इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। दर्शनशास्त्र में 'माया' शब्द प्रायः प्रतीति, भ्रान्ति आदि का द्योतक है। बादरायण व्यास ने स्वरचित वेदान्तदर्शन में केवल एक स्थान पर (३।२।३) माया शब्द का प्रयोग किया है। स्वयं शंकर ने पूर्वपक्ष उठाते हुए वेदान्तदर्शन का उद्धरण देते हुए कहा—'सन्ध्ये सृष्टिराह हि' (३।२।१)। 'सन्ध्य' का अर्थ है—स्वप्न, क्योंकि वह जाग्रत् और सुषुप्ति के बीच की स्थिति होती है। इसकी पुष्टि बहद् ० उप० (४।३।९) के 'सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' इस वचन से होती है। बादरायण कहते हैं—'मायैव सन्ध्ये सृष्टिः' (३।२।३) अर्थात् स्वप्न में जो सृष्टि होती है, वह मात्र कल्पना होती है। यहाँ शंकर ने भी जाग्रत् की तुलना में स्वप्न की सृष्टि को माया कहा है। नवीन वेदान्तियों की तरह जाग्रत् की सृष्टि को नहीं। गौतम ने न्यायदर्शन में 'अनुमान' को प्रत्यक्ष का अनुगामी कहा है। वैसे ही स्वप्न को जाग्रत् का अनुगामी समझना चाहिए। जिस प्रकार प्रत्यक्ष के बिना अनुमान नहीं हो सकता उसी प्रकार जाग्रत् में हुए अनुभव के बिना स्वप्न नहीं हो सकता। यही कारण है कि जन्मान्ध को स्वप्न में रूप का दर्शन नहीं हो सकता।

श्वेताश्वतरोपनिषद् (४।१०) में "मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं च महेश्वरम्" कहकर 'माया' को स्पष्टतः प्रकृति और 'मायावी' को परमेश्वर बताया है। साथ ही यह भी कह दिया कि "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः" (४।९)— अर्थात् इस माया (प्रकृति) से मायावी (परमात्मा) सृष्टि की रचना करता है जिसमें एक दूसरा (जीव) प्रकृति (सत्त्व-रजस्-तमस्) के चक्कर में फँसा रहता है। इससे पूर्व (१।२) 'भोग्यं भोक्ता प्रेरयितारञ्च' कहकर ईश्वर, जीव, और प्रकृति का स्पष्टतः एक साथ किन्तु पृथक्-पृथक् उल्लेख हुआ है। इस प्रकार श्वेता० उप० का यह सारा प्रकरण द्वैतवाद की विस्तृत तथा काव्यात्मक व्याख्या है।

'वेदविरुद्धमतखण्डनम्' में इस विषय में ऋषि लिखते हैं—

प्रश्न—ईश्वर मायावी है, वा नहीं?

उत्तर—यदि कहते हो कि माया ईश्वर की शक्ति है तो यह ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि छल-कपट अर्थ में 'माया' शब्द प्रसिद्धि प्राप्त है। कोई कहे कि वह मायावी है, इससे क्या ज्ञात होता है? यही कि वह छली-कपटी है। ईश्वर माया और अविद्यादि दोषों से रहित है, इसी से निर्मल, निरञ्जन, नित्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ही है। ऐसा

कभी न निश्चय करना चाहिए कि ईश्वर मायावी है, क्योंकि इसमें पतञ्जलि मुनि की साक्षी भी विद्यमान है—“अविद्या आदि क्लेशों और शभाऽशुभ कर्मों के फलों से पृथक् मनुष्यादि की तुलना से रहित पुरुष ‘परमेश्वर’ कहाता है”।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ .

८१. आस

जो छलादि दोषरहित, धर्मात्मा, विद्वान्, सत्योपदेष्टा, सबपर कृपादृष्टि से वर्तमान होकर, अविद्यान्धकार का नाश करके, अज्ञानी लोगों की आत्माओं में विद्यारूप सूर्य का प्रकाश करे, उसको ‘आस’ कहते हैं।

व्याख्या—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में ऋषि ने आसपुरुष का लक्षण इस प्रकार किया है—“जो यथार्थवक्ता, धर्मात्मा, सबके सुख के लिए प्रयत्न करता है, उसी को ‘आस’ कहता हूँ।”

८२. परीक्षा

जो प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, वेदवद्या, आत्मा की शुद्धि और सुष्टिक्रम से अनुकूल विचारके सत्याऽसत्य का ठीक-ठीक निर्णय करना है, उसको ‘परीक्षा’ कहते हैं।

व्याख्या—सत्यासत्यनिर्णये परीक्षा पञ्चविधा—सत्याऽसत्य की परीक्षा पाँच प्रकार से की जाती है। ऋषि की मान्यता है कि मनुष्य का आत्मा सत्याऽसत्य का जाननेवाला है, अर्थात् आत्मा में सत्य और असत्य का विवेक करने की शक्ति है, परन्तु ‘स्वार्थ, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों के कारण सत्य को छोड़ असत्य की ओर झुक जाता है।’ यदि हम सत्य को जानना चाहते हैं और हमारे मस्तिष्क के द्वार खुले हैं तो हम असंगत तथा तर्कहीन विचारों को छोड़कर सत्य की ओर बढ़ते जाएँगे। तर्क, तर्क के लिए नहीं, वरन् सत्य को जानने के लिए है। वह स्वयं साध्य न होकर साधनमात्र है। ‘तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः (न्याय० १।१।४०) के अनुसार तर्क स्वयं तत्त्वज्ञान न होकर तत्त्वज्ञान में सहयोगी है। जब कोई व्यक्ति किसी विषय को तार्त्त्विक रूप से जानना चाहता है तो उसके पक्ष-विपक्ष में प्रमाण व हेतु जुटा गम्भीरता से मनन व चिन्तन करके किसी निर्णय पर पहुँचता है। सत्य के अन्वेषक का इस विषय में मार्गदर्शन करने के लिए सत्याऽसत्य की परख के निमित्त यहाँ पाँच कसौटियाँ निश्चित की गई हैं। जो क्रमशः इस प्रकार

हैं—

१. श्रुतिसम्मतं सत्यम्—जो ईश्वरीय ज्ञान वेद के अनुकूल है, वह सत्य है, किसी भी मनुष्य के लिए पूर्ण ज्ञानी होना सम्भव नहीं। मानव का ज्ञान यत्किंचित् अज्ञानमिश्रित रहता है। ईश्वरीय ज्ञान पूर्ण, नित्य एवं निर्भ्रान्त है। मानव के लिए जितना अपेक्षित है, वह वेद के रूप में उसे प्राप्त है। उसका निर्यक्ष प्रामाण्य होने से वहाँ जो विहित है वह अनुष्ठेय तथा जो निषिद्ध है, वह त्याज्य है। यथार्थ धर्म का स्वरूप वहीं से जाना जाता है। इसलिए ब्रह्मा से जैमिनिपर्यन्त आर्यों का यह परम्परागत विश्वास रहा है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है तथा भगवान् ने सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यमात्र के कल्याण के लिए वेदों का प्रकाश किया जिससे वे परमाणु से लेकर परमेश्वरपर्यन्त समस्त पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर उनका समुचित उपयोग करते हुए अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि कर सकें। समस्त प्राचीन एवं मध्यकालीन साहित्य में वेद के प्रति आस्था और विश्वास का यही स्वर यत्र-तत्र-सर्वत्र गूँजता है। वेदानुकूल होना सत्याऽसत्य की पहली कसौटी है।

२. सृष्टिक्रमाविरुद्धम्—जो बात सृष्टिक्रम के अनुकूल अथवा सृष्टिक्रम के अविरुद्ध है, वह सत्य है। सृष्टि की रचना और उसका संचालन ईश्वरीय व्यवस्था तथा प्राकृतिक नियमों के अधीन है। ये सभी नियम त्रिकालाबाधित हैं। प्रत्येक पदार्थ के गुण-कर्म-स्वभाव सदा एक-से रहते हैं। जो बदलता है वह स्वभाव नहीं कहाता। अभाव से भाव की उत्पत्ति, कारण के बिना कार्य, बिना फल भोगे कर्म का क्षय, बन्ध्या के अथवा माता-पिता के संयोग के बिना सन्तानोत्पत्ति, अग्न्यादि द्रव्यों द्वारा अपने स्वाभाविक गुणों का परित्याग, जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति, जीव की सर्वज्ञता, ईश्वर की अज्ञता तथा उसका जीवों की भाँति जन्म-मरण के बन्धन में पड़ना आदि सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से मिथ्या है।

संसार में कोई भी घटना सृष्टिक्रम के विरुद्ध नहीं घट सकती, भले ही हम अल्पज्ञ होने से उसकी व्याख्या न कर सकें। जिन बातों को हम समझ नहीं पाते उन्हें जादू या चमत्कार का नाम दे देते हैं। अनेक मिथ्या विश्वासों के मूल में उनका सृष्टिक्रम के विरुद्ध होना है। यह सत्याऽसत्य के परख की दूसरी कसौटी है।

३. आसाचारोपदेशानुकूलम्—जो आस पुरुषों के उपदेश और उनके आचरण के अनुकूल है, वह सत्य है। सत्याऽसत्य का निर्णय करने

में सहायक यह तीसरी कसौटी है। 'आप्त' शब्द 'आप्तृ व्याप्तौ' धातु से निष्पन्न होता है। किसी भी पदार्थ के यथार्थ ज्ञान का नाम 'आप्ति' है। किसी कार्य में सर्वात्मना समर्पित व्यक्ति को ही इसकी प्राप्ति होती है। अपने सीमित क्षेत्र में अपने विषय की पूरी जानकारी रखनेवाला कोई भी व्यक्ति उस विषय में साक्षात्कृतधर्मा होने से 'आप्त' कहाता है। जो वस्तु जैसी हो उसको निश्चयपूर्वक उसी रूप में जानना, उसका 'साक्षात्कार' कहाता है। ज्ञानोपलब्धि के अनन्तर जब कोई व्यक्ति उस विषय की जानकारी अन्य लोगों को देने लगता है, तब वह उपदेष्टा है। उस रूप में उसके लिए छलादि दोषरहित, धर्मात्मा, यथार्थवक्ता एवं सदाचारी होना आवश्यक है। उसकी कथनी और करनी एक-जैसी होनी चाहिए। ऐसे आप्त अर्थात् सत्यज्ञानी, सत्यमानी, सत्यवादी तथा सत्यकारी, परोपकारी और पक्षपातरहित विद्वान् जिस बात को मानें, सबको मन्तव्य होने से वह सत्य तथा इसके विपरीत असत्य है। मनुस्मृति में "विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः" में इसी कसौटी का निर्देश किया गया है।

४. स्वस्यात्मनः प्रियम्—जो अपनी आत्मा को प्रिय लगे, वह सत्य और इसके विपरीत असत्य है। जब आत्मा मन को और मन इन्द्रियों को किसी काम में प्रवृत्त करता है तो जीव के इच्छा, ज्ञान आदि सब उसमें केन्द्रित हो जाते हैं। उसी क्षण आत्मा में बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में निर्भयता, निःशंकता और आनन्दोत्साह के भाव उठते हैं। यह जीवात्मा की ओर से नहीं, परमात्मा की ओर से होता है। जिस व्यक्ति का जीवन जितना शुद्ध और पवित्र होता है, उसके भीतर अन्तरात्मा की यह पुकार उतनी ही मुखर होती है। इसी भाव को कालिदास ने "सतां हि सन्देहपेदषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः" (अभिज्ञान०) अर्थात् सत्पुरुषों को सत्याऽसत्य अथवा शुभाशुभ का निश्चय करने में कठिनाई होने की स्थिति में अपने अन्तरात्मा की वृत्ति को प्रमाण मानना चाहिए" कहकर व्यक्त किया है। महर्षि वेदव्यास ने भी धर्म का सार बताते हुए कहा— "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" अर्थात् अपने आत्मा के प्रतिकूल आचरण किसी के प्रति न करे। यह चौथी कसौटी है। और पाँचवी कसौटी है—

८३. आठ प्रमाण

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव—ये 'आठ प्रमाण' हैं। इन्हीं से सब

सत्याऽसत्य का यथावत् निश्चय मनुष्य कर सकता है।

व्याख्या—ग्रन्थकार ने उपर्युक्त आठ प्रमाण माने हैं। न्यायदर्शन के उद्देशसूत्र (१।१।१) में चार ही प्रमाणों का उल्लेख मिलता है—
 “प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि”—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द—ये प्रमाण हैं। शिष्य शंका करता है—“न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्ति-सम्भवाभावप्रामाण्यात्” (२।२।१)—प्रमाणों का चार मानना ठीक नहीं, क्योंकि इनके अतिरिक्त ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव तथा अभाव—ये चार प्रमाण और हैं। तब प्रमाण आठ माने जाने चाहिए। सूत्रकार आचार्य (गौतममुनि) ने शंका का समाधान करते हुए कहा—यह ठीक है कि ऐतिह्य आदि से किसी अर्थ का ज्ञान होने के कारण ये प्रमाण तो कहे जा सकते हैं, परन्तु इनको अतिरिक्त प्रमाण मानना अनावश्यक है, क्योंकि—“शब्दऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावाऽनर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः” (२।२।२) ऐतिह्यादि का शब्दादि में अन्तर्भाव होने से उद्देशसूत्रगत प्रमाण निर्देशविषयक शंका ठीक नहीं है। ऐतिह्य शब्दप्रमाण से भिन्न नहीं है। शब्द का लक्षण किया है—‘आतोपदेशः शब्दः’। ऐतिह्य में वक्ता का निर्देश नहीं रहता, परन्तु इतने से उसके आतोपदेश होने में कोई सन्देह की बात नहीं रहती। इस प्रकार ऐतिह्य के शब्दरूप होने से उसे पृथक् नहीं पढ़ा गया।

अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव—अनुमान के लक्षण से बाहर नहीं आते। अनुमान में यही विशेषता है कि इससे प्रत्यक्ष अर्थ से सम्बद्ध अप्रत्यक्ष अर्थ का बोध होता है। ‘अर्थापत्ति’ में इसी प्रकार एक वाक्यार्थ के ज्ञान से उस विरोधी अर्थ का ज्ञान हो जाता है जो कहा नहीं गया है। बात यह कही गई कि ‘बादलों के न होने से वर्षा नहीं होती’। इसी से अकथित विरोधी अर्थ का ज्ञान हुआ कि ‘बादलों’ के होने पर ही वर्षा होती है’। इसमें पहला कथन ‘हेतु’ और दूसरा अकथित अर्थ ‘साध्य’ है। यही ‘अनुमान’ का स्वरूप है। इसी प्रकार ‘सम्भव’ और ‘अभाव’ की व्याख्या से उन दोनों का भी ‘अनुमान’ में अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार विवेचन करने पर न्याय के उद्देशसूत्र तथा ग्रन्थकार द्वारा किये गये विवेचन में कोई असामंजस्य अथवा किसी प्रकार का तात्त्विक विरोध तो नहीं रहता पर व्यावहारिक दृष्टि से ग्रन्थकार के मत की उपयोगिता को नहीं नकारा जा सकता।

८४. लक्षण

जिससे लक्ष्य जाना जाए जोकि उसका स्वाभाविक

गुण हैं, जैसेकि रूप से अग्नि जाना जाता है, उसको 'लक्षण' कहते हैं।

व्याख्या—'स्पर्शवान् वायुः', 'अप्सु शीतता', 'तेजोरूप-स्पर्शवत्' आदि में स्पर्श, शीतलता, तथा रूप क्रमशः वायु, जल तथा तेज=अग्नि के लक्षण हैं, क्योंकि उन्हीं के द्वारा वायु आदि को जाना जाता है।

८५. प्रमेय

जो प्रमाणों से जाना जाता है। जैसेकि आँख का प्रमेय रूप अर्थ है, जोकि इन्द्रियों से प्रतीत होता है, उसको 'प्रमेय' कहते हैं।

व्याख्या—'प्रमाण' यह पद 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'माङ्' (मा) धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। 'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्', अर्थात् ज्ञान का जो करण—साधन है, वह 'प्रमाण' कहा जाता है। इस प्रकार जिस साधन द्वारा कोई पदार्थ निश्चित रूप से जाना जाता है, उसे प्रमाण कहते हैं और ज्ञेय पदार्थ को 'प्रमेय' कहते हैं।

८६. प्रत्यक्ष

जो प्रसिद्ध शब्दादि पदार्थों के साथ श्रोत्रादि इन्द्रिय और मन के निकट सम्बन्ध से ज्ञान होता है, उसको 'प्रत्यक्ष' कहते हैं।

व्याख्या—प्रत्यक्ष—'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यम-व्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्' (न्याय० १।१।४)—जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ, अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं।

बाह्यविषय के साथ सम्बन्ध न आत्मा का होता है न मन का। चेतन होने से आत्मा ज्ञाता व अनुभविता है और मन आन्तर साधन है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ बाह्य साधन हैं। बाह्य विषय के साथ सीधा सम्बन्ध बाह्य इन्द्रियों का होता है। आत्मा जिस विषय का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, वह आन्तर साधन मन को प्रेरित करता है। मन अभिलषित विषय को ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होकर इन्द्रिय को उम अर्थ (विषय) की ओर प्रेरित करता है। अब बाह्य

विषय का सम्बन्ध बाह्य इन्द्रिय से, बाह्य इन्द्रिय का आन्तर साधन मन से और मन का आत्मा से है। आत्मा मन, इन्द्रिय और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध से आत्मा बाह्य अर्थ को जान लेता है। आत्मा को बाह्य जगत् का ज्ञान इसी प्रक्रिया से होता है।

आत्मा से संयुक्त मन के द्वारा प्राप्त इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान निर्दोष हो—इसके लिए आवश्यक है कि वह—

१. अव्यपदेश्य हो—शब्द द्वारा किसी शब्द का ज्ञान कराना 'व्यपदेश' कहाता है। जिस पदार्थ का बोध कराना अभीष्ट है, वह 'व्यपदेश्य' कहाएगा। प्रत्यक्ष ज्ञान की पहली पहचान है कि वह अव्यपदेश्य हो, अर्थात् शब्द द्वारा उसका बोध न कराया जा सके। जो व्यपदेश्य है वह प्रत्यक्ष न होकर शब्दज्ञान है जो शब्दप्रमाण का विषय है। वस्तुतः अनुभूत्यात्मक अर्थज्ञान का वाचक कोई ऐसा शब्द ही नहीं हो सकता जिससे उसका तद्रूप बोध कराया जा सके। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्षज्ञान में शब्द की अपेक्षा नहीं होती।

२. अव्यभिचारी हो—अन्य पदार्थ में अन्य का ज्ञान हो जाना—जैसे झुटपुटे में टेढ़ी-मेढ़ी रस्सी को देखकर साँप समझ बैठना या ग्रीष्म ऋतु में दूर तक फैले रेत को जल समझ लेना—व्यभिचारी ज्ञान कहाता है, जो प्रकाश होने या निकट जाकर देखने पर नष्ट हो जाता है। जहाँ जिसका प्रभाव हो वहाँ उसका दीखना व्यभिचारी ज्ञान है। इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षोत्पन्न होने पर भी वह प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता।

३. व्यवसायात्मक हो—'व्यवसाय' पद का अर्थ है—क्रिया का पूर्णरूप से सम्पन्न होना। ज्ञान के क्षेत्र में इसका अर्थ होगा—निश्चय पर पहुँच जाना अथवा सन्देहरहित हो जाना। इस प्रकार 'व्यवसायात्मक' पद का अर्थ हुआ—निश्चयात्मक। इसलिए जब तक कोई 'यह बालू है या जल' की द्विविधा में ग्रस्त है तब तक उसका ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न होने पर भी प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं आएगा। संशयरहित होकर निश्चयात्मक अर्थात् व्यवसायात्मक होने पर ही वह प्रत्यक्ष कहाएगा।

गुणानां प्रत्यक्षम्—यहाँ यह जानना चाहिए कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है। इन्द्रियों द्वारा विषय के प्रत्यक्ष से उसके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न गुणों की अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं। जल के प्रत्यक्ष में जल के स्पर्श से शीतलता, जिह्वा से रस, चक्षुओं से रूप

व तरलता की अलग-अलग अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं। अलग-अलग ये अनुभूतियाँ केवल शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादि की सूचनामात्र हैं। मन में इन सब सूचनाओं के एकत्र हो जाने पर उनके संयोग-वियोग से बुद्धि उन अनुभूतियों को समवेतरूप देकर उन्हें किसी नाम से अभिहित कर देती है। इसी को विषय का प्रत्यक्ष कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु गुण और गुणी का समवाय-सम्बन्ध होने से गुणों के साथ गुणी का प्रत्यक्ष हुआ मान लिया जाता है। मन के आशुगति होने से यह प्रक्रिया इतने वेग से होती है कि हम गुणी का ही प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

८७. अनुमान

किसी पूर्वदृष्ट पदार्थ के एक अंग को देखने के पश्चात्, उसके अदृष्ट अंगों का जिससे यथावत् ज्ञान होता है, उसको 'अनुमान' कहते हैं।

व्याख्या—'अनुमान' शब्द का अर्थ है—'अनु अर्थात् प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्'—अर्थात् जिसका कोई एकदेश अथवा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो, उसके दूर देश के सहचारी के एकदेश (अवयव) के प्रत्यक्ष होने पर अदृष्ट सहचारी या अवयवी का ज्ञान होने को 'अनुमान' कहते हैं। आग और धुएँ को एकसाथ देखने अथवा किसी लिंगी और लिंग के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होने पर कालान्तर में एक का प्रत्यक्ष हो जाने पर दूसरे को अनुमान से जान लिया जाता है।

प्रत्यक्षपूर्वक होनेवाला यह अनुमान तीन प्रकार का होता है—पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट। 'पूर्ववत्'—कार्योन्मुख कारण को देखकर जब कार्य का अनुमान होता है तब पूर्ववत् अनुमान होता है—जैसे बादलों को देखकर वर्षा होने का अनुमान। कारण सदा कार्य से पहले होता है, इसलिए इसे 'पूर्ववत्' कहा गया है। यहाँ बादल (कारण) पहले है, वर्षा (कार्य) बाद में।

'शेषवत्'—जहाँ कार्य को देखकर कारण का अनुमान होता है—जैसे नदी में बाढ़ को देखकर पर्वत पर हुई वर्षा का, पुत्र को देखकर पिता का, सृष्टि को देखकर उसके रचयिता ईश्वर का और सुख-दुःख को देखकर पाप-पुण्य के आचरण का ज्ञान—यहाँ शेषवत् अनुमान होता है। धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान भी 'शेषवत्' का उदाहरण है।

‘सामान्यतोदृष्ट’—विभिन्न प्रदेश में एकत्वेन दृष्ट व्यक्ति या पदार्थ जहाँ अदृष्ट अर्थ का अनुमान कराता है, वहाँ ‘सामान्यतोदृष्ट’ अनुमान होता है। यात्रा के बिना कोई व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं पहुँच सकता। इसलिए गतवर्ष वाराणसी में देखे गये देवदत्त को आज दिल्ली में देखकर उसकी यात्रा (हमारे लिए अदृष्ट) का अनुमान हो जाता है। इसी प्रकार सूर्य को प्रातःकाल पूर्व में और सायंकाल पश्चिम में देखकर उसकी गति (लोकव्यवहार की भाषा के अनुसार) का अनुमान होता है। ये दोनों सामान्यतोदृष्ट के उदाहरण हैं।

८८. उपमान

जैसे किसी ने किसी से कहा कि गाय के तुल्य नीलगाय होती है, ऐसे जो उपमा से सादृश्य ज्ञान होता है, उसको ‘उपमान’ कहते हैं।

व्याख्या—प्रसिद्ध (प्रत्यक्ष) सादृश्य—साधर्म्य से साध्य का साधन ‘उपमान’ कहाता है। ‘उपमीयते येन तदुपमानम्—अर्थात् जिसके समान किसी का कथन कहा जाए, वह उपमान कहाता है और जिसके विषय में कथन किया जाए, वह उपमेय। दो पदार्थों में सादृश्य होने पर उपमान से काम लिया जाता है। उदाहरणार्थ—

स्वामी सेवक से—जाओ, विष्णुमित्र को बुला लाओ।

सेवक—वहाँ तो बहुत-से लोग हैं और मैं विष्णुमित्र को जानता-पहचानता नहीं।

स्वामी—देवदत्त को तो तुम अच्छी तरह जानते हो, बस विष्णुमित्र भी वैसा ही है।

सेवक गया और एक पुरुष को देवदत्त-जैसा जानकर ले-आया। वही विष्णु मित्र निकला।

८९. शब्द

जो पूर्ण आप्त परमेश्वर और पूर्वोक्त आप्त मनुष्य का उपदेश है, उसी को ‘शब्दप्रमाण’ कहते हैं।

व्याख्या—किसी पदार्थ के साक्षाद्धर्मा पुरुष को आप्त कहते हैं। पृथिवी से लेकर परमेश्वरपर्यन्त पदार्थों में से किसी का यथार्थज्ञान प्राप्त पुरुष आप्त कोटि में आता है। जगत् में अनेक प्रकार के व्यवहार शब्द-प्रमाण के आधार पर चलते हैं। यदि हम पूर्वजों के कथन पर विश्वास न करते और हर पीढ़ी के लोग अपने ही सहारे सब-कुछ

नये सिर से करते तो मनुष्यजाति जहाँ-की-तहाँ रहती। आज भी हम अपने-अपने सीमित क्षेत्र में विशेष ज्ञान रखनेवाले साक्षात्कृतधर्मा लोगों (Specialists and Experts) की सहायता से अपना काम चलाते हैं, किन्तु पूर्ण आप्त परमेश्वर है। इससे उसका वचन स्वतःप्रमाण है, दूसरों का परतःप्रमाण।

१०. ऐतिह्य

जो शब्दप्रमाण के अनुकूल हो, जोकि असम्भव और झूठ लेख न हो, उसी को 'ऐतिह्य' (इतिहास) कहते हैं।

व्याख्या—जिन बातों को परम्परा से कहते-सुनते चले आते हैं या ग्रन्थों में यत्र-तत्र जिनका उल्लेख मिलता है ऐसे प्रवादों अथवा कथानकों की परम्परा का नाम 'ऐतिह्य' है। ऐतिह्य में प्रथम प्रवक्ता का निर्देश नहीं रहता। इस कारण इसका शब्दप्रमाण के अन्तर्गत आना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

११. अर्थापत्ति

जो एक बात के कहने से दूसरी बात बिना कहे समझी जाए, उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं।

व्याख्या—किसी के एक बात कहने से दूसरी बात स्वतः सिद्ध हो जाए तो 'अर्थापत्ति' कहाती है। जैसे किसी के यह कहने पर कि 'बादल के बिना वर्षा नहीं होती' यह अपने-आपसे हो गया कि 'बादल होने पर वर्षा होती है।' इसी प्रकार यह कहने पर कि 'सत्यवादी का विश्वास किया जाता है', यह बिना कहे सिद्ध हो जाता है कि 'झूठे का विश्वास नहीं किया जाता'। यह ज्ञान 'अर्थापत्तिप्रमाण' से प्राप्त किया जाता है।

१२. सम्भव

जो बात प्रमाण, युक्ति और सृष्टिक्रम से युक्त हो वह 'सम्भव' कहाती है।

व्याख्या—जो बात सृष्टिक्रम के अनुकूल हो वही सम्भव है, इसके विपरीत असम्भव। मृतकों का जी उठना, वन्ध्या के पुत्र का विवाह, माता-पिता के संयोग के बिना सन्तानोत्पत्ति, चन्द्रमा के दो टुकड़े होना, हनुमान् जी का सूर्य को निगल जाना, अगस्त्य का समुद्र को पी जाना आदि सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से असम्भव हैं।

१३. अभाव

जैसे किसी ने किसी से कहा कि तू जल ले-आ। उसने वहाँ देखा कि यहाँ जल नहीं है, परन्तु जहाँ जल है, वहाँ से ले-आना चाहिए। इस अभावनिमित्त से जो ज्ञान होता है, उसे 'अभावप्रमाण' कहते हैं।

व्याख्या—पुरोवात के कारण बादलों के भारी होने पर भी वर्षा का अभाव उसके विरोधी प्रतिबन्धक 'विधारक-वात' का ज्ञान करा देता है। इस प्रकार 'अभाव' अपने विरोधी के ज्ञान का हेतु होने से प्रमाणों में गिना जाता है।

१४. शास्त्र

जो सत्य विद्याओं के प्रतिपादन से युक्त हो और जिस करके मनुष्यों को सत्य-सत्य शिक्षा हो, उसको 'शास्त्र' कहते हैं।

व्याख्या—सृष्टि के आदि में प्रादुर्भूत वेदों और तदनन्तर आतपुरुषों द्वारा प्रदत्त ज्ञानराशि को शास्त्र नाम से अभिहित किया जाता है। शास्त्र का प्रयोजन बताते हुए गीता में कहा है—

तस्माच्छस्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

—गीता १६।२४

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—धर्माधर्म—कर्तव्याकर्तव्य की व्यवस्था में—निश्चय कराने अथवा मार्गदर्शन करने में तेरे लिए शास्त्र ही प्रमाण है, इसलिए शास्त्रविधि से नियत कर्मों का करना ही तेरे लिए (मनुष्य-मात्र के लिए) उचित है।

इसके विपरीत आचरण करने में सावधान करते हुए कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

—गीता १६।२३

जो मनुष्य शास्त्रीय विधि-विधान की अवहेलना करके मनमानी करता है, न उसे किसी कार्य में सिद्धि मिलती है, न वह सुख पाता है और न परमगति=मोक्ष को प्राप्त करता है।

परमशास्त्र वेद है, जिसके लिए महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

न हि वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते ।

निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात् ॥

निश्चय ही वेद से बढ़कर कोई शास्त्र नहीं है। अन्य सभी शास्त्र सनातन वेद से ही निकले हैं।

उस परमप्रमाण ईश्वरीय शास्त्र के विषय में कहा है—“सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषिः” (अथर्व)—सदा ईश्वरीय शास्त्र “श्रुति (श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः—मनु) के अनुसार आचरण करो, उसके विरुद्ध कभी न चलो।

१५. वेद

जो ईश्वरोक्त सत्य विद्याओं से युक्त ऋक्संहितादि चार पुस्तक हैं जिनसे मनुष्य को सत्याऽसत्य का ज्ञान होता है, उनको ‘वेद’ कहते हैं।

व्याख्या—यद्यपि सामान्य यौगिक अर्थ की अपेक्षा से वेद शब्द का प्रयोग ज्ञान के साधनरूप ग्रन्थमात्र के लिए किया जा सकता है, तथापि पंकज, जलज आदि शब्दों के समान श्रेष्ठतम आद्य ज्ञान के आधारभूत ग्रन्थविशेष (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद) के लिए ही रूढ़ हो गया है। वेद पदवाच्य ग्रन्थों के विषय में बहुत समय से विवाद रहा है। वेद की महत्ता के कारण लोगों ने मनमाने साहित्य को वेद नाम से अभिहित किया है। प्रायः लोग चार संहिताओं को ही वेद मानते हैं, किन्तु कुछ लोग वेदों के व्याख्यानरूप ब्राह्मणग्रन्थों का भी वेदों में समावेश करते हैं। कुछ अन्य उपनिषदों और आरण्यकों को भी वेद मानते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो कल्पसूत्र, मीमांसासूत्र और वेदाङ्गों का भी वेदत्व स्वीकार करते हैं, परन्तु आदिकाल से आज तक ईश्वरप्रदत्त-अपौरुषेय वेद के नाम से चार संहिताओं को ही माना जाता रहा है। (इस विषय में विस्तृत जानकारी के लिए देखें—मद्रचित ‘वेदमीमांसा’।)

१६. पुराण

जो प्राचीन ऐतरेय, शतपथब्राह्मणादि ऋषि-मुनिकृत सन्त्यार्थ पुस्तक हैं, उन्हीं को ‘पुराण’, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी कहते हैं।

व्याख्या—‘वेदविरुद्धमतखण्डनम्’ में ग्रन्थकार लिखते हैं—[जो तुम पुराण से] “ब्रह्मवैवर्तादि अठारह पुराण और उपपुराण लेते हो

सो ठीक नहीं, क्योंकि 'पुराण' शब्द विशेषणवाचक होने से व्यावर्तक अर्थवाची होता है। जैसे पुराने, प्राचीन आदि शब्द नवीन और अर्वाचीन शब्दार्थों को निवृत्त करते हैं, वैसे पुराण आदि शब्द नवीन आदि के वाच्य अर्थों को निवृत्त करते हैं। इस कारण पुराण शब्द से वेद और वेद के व्याख्यान ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण होता है, किन्तु ब्रह्मवैवर्तादि का नहीं।''

'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' में ऋषि स्पष्ट लिखते हैं—“जो ब्रह्मादि के बनाये ऐतरेय आदि ब्राह्मण पुस्तक हैं, उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा, नाराशंसी नाम से मानता हूँ, अन्य भागवतादि को नहीं।”

१७. उपवेद

जो आयुर्वेद वैद्यकशास्त्र, जो धनुर्वेद शस्त्रास्त्रविद्या, राजधर्म, जो गन्धर्ववेद गानशास्त्र और अथर्ववेद जो शिल्प-शास्त्र है, इन चारों को 'उपवेद' कहते हैं।

१८. वेदाङ्ग

जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आर्ष सनातन शास्त्र हैं, उनको 'वेदाङ्ग' कहते हैं।

१. शिक्षा—सम्प्रति जिसे भाषाविज्ञान कहते हैं, उसके तीन अङ्ग हैं—उच्चारण, शब्दों का स्वरूप और उनके अर्थ। भारतीय मनीषियों ने भाषाविज्ञान या भाषाशास्त्र के तीनों अङ्गों के निरूपण के लिए क्रमशः शिक्षा, व्याकरण तथा निरुक्तशास्त्र का अन्वाख्यान किया है।

वैदिक भाषा की एक विलक्षणता है जो संसार की अन्य किसी भाषा में नहीं देखी जाती। वेद में जितने भी मन्त्र हैं, प्रत्येक मन्त्र में जितने पद हैं और प्रत्येक पद में जितने अक्षर हैं उनमें से प्रत्येक अक्षर की अपनी स्वतन्त्र जन्मभूमि-धातु है और उसी के अनुसार उसका अपना स्वतन्त्र अर्थ है। यदि प्रत्येक शब्द के प्रत्येक अक्षर का अर्थ समझकर उस शब्द का अर्थ किया जाए तो फिर उस शब्दसमुदाय से मिलकर बने वाक्य का अर्थ विलक्षण होगा।

२. कल्प—कल्प का अर्थ है बनाना-संस्कृत करके निर्माण करना। कायाकल्प, आत्मकल्प, राष्ट्रकल्प आदि में यही भाव निहित है। आर्य-जाति के वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने के लिए ऋषियों ने गम्भीर चिन्तन के उपरान्त निर्धारित किया कि व्यष्टि से ही समष्टि अथवा समाज की रचना होती है। इसलिए व्यक्ति के

चारित्रिक विकास और उसपर आधारित समाज के निर्माण के लिए जन्म से मृत्युपर्यन्त होनेवाले सोलह संस्कारों की व्यवस्था की गई। मुख्यतः श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्र और स्मृतिग्रन्थ इस कल्पसंज्ञक वेदाङ्ग के अन्तर्गत हैं। वर्तमान काल में ऋषि दयानन्दकृत संस्कार-विधि भी इसी के अन्तर्गत है।

३. व्याकरण—व्याकरण का शब्दार्थ है—पृथक्करण। इस प्रकार शब्दों की चीरफाड़ करने में व्याकरण सहायक है। किसी शब्द के गूढ़ार्थ को, उसके मूल, शाखा, पत्तों और फूलों की भाँति उसके धातु, प्रत्यय, उपसर्ग आदि को अलग-अलग करके समझने में व्याकरण ही सबसे बड़ा साधन माना गया है।

४. निरुक्त—निरुक्त वैदिक शब्दों की ही व्याख्या करता है। इसलिए उसका वेद से साक्षात् सम्बन्ध है। इसीलिए उसे वेद का निकटवर्ती अङ्ग माना जाता है। वैदिक शब्द-समुदाय यौगिक है, अतः उसका अर्थज्ञान निर्वचन के बिना सम्भव नहीं। निरुक्त तथा किसी प्रकार की भी निर्वचन प्रक्रिया को स्वीकार किये बिना वेद को समझने में सफलता मिल ही नहीं सकती। वस्तुतः निरुक्त यास्काचार्य द्वारा विरचित निघण्टु का भाष्य है। निघण्टु और निरुक्त दोनों का मूल वेद है।

५. छन्दःशास्त्र—‘यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः’ (ऋक्सर्वा० २।६)—इस आर्ष परिभाषा के अनुसार जिसमें भिन्न अक्षरों की एक निश्चित संख्या निर्धारित हो, उसे छन्द कहते हैं। सात स्वरों के अनुपात से छन्दों की गिनती सात ही है। वैदिक छन्दों के जाननेवालों में पिङ्गल नाम का एक प्रसिद्ध आचार्य हुआ है जो मल्लवैयाकरण पाणिनि का छोटा भाई बताया जाता है। उसके नाम का अनुकरण करते हुए छन्दःशास्त्र को पिङ्गलशास्त्र या केवल ‘पिङ्गल’ कहा जाने लगा।

६. ज्योतिष—आकाशगत सूर्यमण्डल से सम्बन्ध रखनेवाले नक्षत्रविज्ञान को ‘ज्योतिष’ कहते हैं। यही ज्योतिष-शास्त्र, ज्योतिर्विज्ञान या नक्षत्रविज्ञान वेद का छठा अङ्ग है। ज्योतिष-शास्त्र से क्योंकि काल का ठीक-ठीक ज्ञान होता है, इसी भाव से इस शास्त्र को वेदाङ्ग के रूप में मान्यता प्राप्त है। अथर्ववेद (१२।३।३०) के अनुसार वेद का जाननेवाला ज्ञानी पुरुष द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी तीनों लोकों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

९९. उपाङ्ग

जो ऋषि-मुनिकृत मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग,

सांख्य और वेदान्त छह शास्त्र हैं, उनको 'उपाङ्ग' कहते हैं।

व्याख्या—इन छह शास्त्रों (दर्शनों) में सृष्टि-विषय में परस्पर विरोध होना कहा जाता है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। छहों दर्शन परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। सृष्टिविद्या के भिन्न-भिन्न छह अवयवों का छह शास्त्रों में प्रतिपादन होने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं है। सृष्टि के कर्मकारण की व्याख्या मीमांसा में, समय की व्याख्या वैशेषिक में, उपादानकारण की व्याख्या न्याय में, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में, तत्त्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य में और निमित्तकारण की व्याख्या वेदान्तशास्त्र में की गई है। सृष्टि के छह कारण हैं। इनमें से एक-एक की व्याख्या एक-एक ऋषि ने की है। फिर विरोध कैसे?

१००. नमस्ते

मैं तुम्हारा मान्य करता हूँ।

व्याख्या—परस्पर अभिवादन के लिए 'नमस्ते' करना ही शास्त्रसम्मत है। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, रामायण, महाभारत तथा पुराणादि में सर्वत्र इसी का विधान किया है। अन्य जितने भी पद वर्तमान में प्रचलित हैं, वे सब अशास्त्रीय एवं कपोलकल्पित हैं। हमारे पुरुष आदिकाल से इसी का प्रयोग करते आये हैं। हम यहाँ कतिपय प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

यजुर्वेद के १६वें अध्याय के दो मन्त्र इस प्रकार हैं—

नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च।

नमो वृद्धाय च संवृधे च नमोऽग्न्याय च प्रथमाय च॥३०॥

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापराजाय च।

नमो मध्यमाय चाप गलभाय च नमो जघन्याय च बुध्याय च॥३२॥

मन्त्रार्थ के लिए इनसे पहले एक मन्त्र में आये 'नमस्ते आयुधाय इत्यादि के 'नमस्ते' पद से 'ते' का अनुकर्षण करना चाहिए। इन मन्त्रों के अन्वयार्थ से स्पष्ट है कि यहाँ छोटे, बड़े और बराबरवाले सबके लिए समान रूप से 'नमस्ते' शब्द से अभिवादन का निर्देश किया गया है। उव्वट और महीधर ने भी इन मन्त्रों का अर्थ इसी प्रकार किया है। इसी अध्याय के १४ वें मन्त्र के अन्तर्गत 'नमस्ते' का अर्थ इस प्रकार किया है—'नमस्ते नमोऽस्तु ते'।

गरुडपुराण में ५६ बार, देवीभागवत में ६६ बार, ब्रह्माण्ड में ९५ बार, कूर्म में ९९ बार, शिवपुराण में १४८ बार—इस प्रकार पुराणों

में कुल मिलाकर कम-से-कम १९४६ बार अभिवादन के रूप में 'नमस्ते' का प्रयोग हुआ है।

कठोपनिषद् में गुरुवर्य यमाचार्य नचिकेता को कहते हैं—

“नमस्ते ब्रह्मन्! स्वास्ति मेऽस्तु” —१।९

ब्रह्मवादिनी गार्गी महर्षि याज्ञवल्क्य को—

“सा होवाच—नमस्ते याज्ञवल्क्याय” —शत० १४।६।८।५

वसिष्ठ से विश्वामित्र—

“नमस्तेऽस्तु गमिष्यामि मैत्रेणोक्षस्व चक्षुषा”।

—वा० रा० बा० ५२।१७

शकुनि मामा युधिष्ठिर से—

“ज्येष्ठो राजन् वरिष्ठोऽसि नमस्ते भरतर्षभ”।

—महा० सभा० ८१।३०

श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र से—

“एतत् सर्वमनुध्याय—नमस्ते भरतर्षभ”।

—महा० शा० ३३।५३

युधिष्ठिर श्रीकृष्ण से—

“नमस्ते पुण्डरीकाक्ष पुनः पुनररिदम”। —महा० शान्ति० ४३।३

कौसल्या अपने पुत्र राम को—

“देव देव नमस्तेऽस्तु”। —अध्यात्म रामा० बाल० ३।२०

—०—०—

वेदरामाङ्गचन्द्रेऽब्दे विक्रमार्कस्य भूपतेः।

नमस्ये सितसप्तम्यां सौम्ये पूर्तिमगादियम्॥

श्रीयुत महाराजा विक्रमादित्यजी के १९३४ के संवत् में श्रावण महीने के शुक्लपक्ष सप्तमी बुधवार के दिन श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यभाषा में सब मनुष्यों के हितार्थ यह 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' पुस्तक प्रकाशित किया ॥

शतमितं नवरत्नैर्गुम्फितामुज्ज्वलाङ्गीम्,

सार्जामिव गलदेशं प्रापयिष्यत्यलं यः।

स सलिलनिधिकां चीमूषितायां धरित्र्याम्,

निजसुरभिविलासं प्रापयिष्यत्यवश्यम्॥

स्वामी विद्यानन्दजी की अन्य रचनाएँ

१. भूमिकाभास्कर (दो भाग)
२. सत्यार्थभास्कर (दो भाग)
३. संस्कारभास्कर
४. अनादितत्त्व दर्शन
५. वेद-मीमांसा
६. अध्यात्ममीमांसा (ईशोपनिषद्ग्रहस्य)
७. तत्त्वमसि अथवा अद्वैत-मीमांसा
८. प्रस्थानत्रयी और अद्वैतवाद
९. आर्यों का आदिदेश और उनकी सभ्यता
१०. सृष्टि विज्ञान और विकासवाद
११. द्वैतसिद्धि
१२. चत्वारो वै वेदाः
१३. वेदार्थभूमिका (हिन्दी)
१४. वेदार्थभूमिका (संस्कृत)
१५. त्यागवाद
१६. स्वराज्य दर्शन
१७. राजधर्म
१८. खट्टी-मीठी यादें
१९. आर्यों का आदिदेश (१२ भाषाओं में)
२०. स्वामी विवेकानन्द के विचार
२१. मूल गीता में श्रीकृष्णार्जुन संवाद
२२. जन्म-जीवन-मृत्यु
२३. शंकराचार्यकृत परापूजा का भाष्य
२४. वाल्मीकि रामायण भ्रान्तियाँ और निराकरण
२५. आर्यसिद्धान्त विमर्श
२६. गौ की गुहार

अंग्रेजी में

1. The Brahmasutra
2. Vedic Concept of God
3. Theory of Reality
4. Ishopanishad—a study in Ethies and Metaphysics
5. Anatomy of Vedanta
6. Political Science
7. The Age of Shankara
8. The Riddle of Life and Death
9. Original Home of the Aryans
10. The Gospel of Swami Vivekananda
11. The Gospel of National Awakening



आर्य समाज हिण्डौन सिटी के श्री घूडमल आर्य पुरस्कार सन् १९८८ के अन्तर्गत पूज्य स्वामी श्री विद्यानन्द सरस्वती। साथ में शोधकर्ता आर्य विद्वान प्राध्यापक श्री राजेन्द्र जी जिज्ञासु

पुस्तक में क्या है?

स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था— “पिछले सौ वर्ष में हमने जो कुछ भी देश के लिए किया उसके प्रेरणास्रोत स्वामी दयानन्द ही थे।

हमारा संविधान भी मूलतः उन्हीं तत्त्वों पर आधारित है जिनका उल्लेख महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में यत्र—तत्र किया है।”

इस छोटी सी पुस्तक में मानों, राजेन्द्र बाबू के उक्त कथन की विस्तृत व्याख्या की गई है। पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ने पर उसकी पुष्टि हो जाती है।

—स्वामी विद्यानन्द